

# समाज की अभिनव रूपना



-श्रीराम शर्मा आचार्य

# समाज की अभिनव

## रचना



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं० - २५३०२००

पुनर्मुद्रित सन् - २०१४

मूल्य : १८.०० रुपये

“ईट-से-ईट जोड़कर विशाल भवन का निर्माण होता है। बूँद-बूँद मिलकर ही नदी, सरोवर, सागर बनते हैं। जल की प्रत्येक बूँद अपना अस्तित्व अलग रखेगी, तो उसकी कितनी हस्ती होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एक मिट्टी का कण, सूरज की क्षीण-सी किरण उसे सुखा देगी, हवा का एक झोंका उसे छिन्न-भिन्न कर देगा। अनेक व्यक्तियों के परस्पर सहयोग से ही एक-दूसरे की उन्नति एवं विकास संभव है और इसी से समाज, राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है।”

ISBN  
81-89309-06-4

# भूमिका

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसकी सुख, समृद्धि और प्रगति परस्पर सहयोग पर ही निर्भर है। अन्य जीव-जंतु बिना दूसरों की सहायता के एकाकी जीवन अपने बलबूते पर जी सकते हैं, पर मनुष्य के लिए यह संभव नहीं। मनुष्य का बालक कई वर्ष की आयु तक दूसरों की सेवा-सहायता पर निर्भर रहता है। यदि उसे यह लालन-पालन न मिले, तो जीवित रह सकना भी संभव न हो, जबकि दूसरे प्राणी जन्म के बाद बहुत थोड़ी सहायता माता की लेते हैं।

मनुष्य की प्रगति का जितना श्रेय उसके बुद्धि-बल को है, उससे अधिक श्रेय उसकी सामाजिक प्रवृत्ति को है। यदि मिल-जुलकर रहने और एक-दूसरे की सहायता करने का भाव घट जाए, तो प्रगति का पथ भी अवरुद्ध हो जाता है। कहीं उलटी गति अधिक चलने लगे, दूसरों की सहायता करने के स्थान पर शोषण की भावनाएँ जाग पड़ें, तो यह संसार नरक बन जाता है और पाप-तापों की, क्लेश-कलह की सर्वनाशी अग्नि भड़कने लगती है।

सामूहिकता की, परस्पर उदारता और सहायता की वृत्तियों को सजग रखना, उनके प्रति प्रगाढ़ आस्था बनाए रहना मानवीय प्रगति एवं विश्वशांति की दृष्टि से नितांत आवश्यक है। आज यह प्रवृत्ति घट रही है, फलस्वरूप मानव जीवन की जटिलताएँ बढ़ती जा रही हैं और विनाश की घटाएँ घुमड़ती दीख पड़ने लगी हैं। इस स्थिति को बदलने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिकता की प्रवृत्तियों को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाए और लोगों को अधिक उदार, शिक्षित, संस्कृति प्रेमी, संयमी एवं परमार्थप्रिय बनने की प्रेरणा दी जाए। प्रस्तुत पुस्तक इसी उद्देश्य से प्रस्तुत की गई है।

— श्रीराम शर्मा आचार्य

# विषय-सूची

१. विश्व-मानव की अखंड अंतरात्मा	५
२. समाज और व्यक्ति का उत्कर्ष	९
३. सहयोग की आवश्यकता	१३
४. परस्पर स्नेह-संबंधों का निर्वाह	१६
५. सहयोग भावना मानवता की प्रतीक है	२०
६. कर्मों का सामूहिक फल	२६
७. स्वार्थ ही नहीं परमार्थ को भी साधें	३०
८. सामाजिक प्रगति का एकमात्र आधार	३९
९. मिल-जुलकर आगे बढ़िए	४६
१०. सबके हित में अपना हित	५१
११. हम एकता की ओर बढ़ें	५७
१२. समाज सुधार की अनिवार्य आवश्यकता	६४
१३. हमारा समाज असभ्य एवं अविवेकी न हो	७२
१४. सभ्यता शिष्टाचार में ही सन्निहित है	७८
१५. नारी को अविकसित न रहने दिया जाए	८६
१६. अनंतवत्सला नारी और उसकी महत्ता	९३



# समाज की अभिनव रचना

## विश्व-मानव की अखंड अंतरात्मा

विश्व मानव की आत्मा एक और अखंड है। समस्त जड़-चेतन उसी के अंतर्गत अवस्थित हैं। इस आत्मा में अपनी एक दिव्य आभा, स्वर्गीय ज्योति जगमगाती है। अनेक मल आवरणों ने उसे ढक रखा है। यदि वह ज्योति इन आवरणों को चीरकर अपने शुद्ध स्वरूप में जगमगाने लगे, तो उसका आलोक जहाँ भी पढ़े वहीं आनंद का परम आह्लादकारी दृश्य दिखाई दे सकता है। इस प्रकाश की सीमा में आने वाली हर वस्तु स्वर्गीय बन सकती है। ऐसी बहुमूल्य ज्योति हमारे अंदर मौजूद है। स्वर्ग की सारी साज-सज्जा हमारे भीतर प्रस्तुत है, पर अविद्या के प्रतिरोधी तत्त्वों ने उसे भीतर ही अवरुद्ध कर रखा है। फलस्वरूप मानव प्राणी स्वयं नारकीय स्थिति में पड़ा हुआ है और वैसा ही नरक तुल्य वातावरण अपने चारों ओर बनाए बैठा है।

आत्मा स्वार्थ की संकुचित सीमा में अवरुद्ध होकर आज खंडित हो रही है। हर व्यक्ति अपने को दूसरों से अलग खंडित देखता है, फलस्वरूप चारों ओर संघर्ष और कलह का वातावरण उत्पन्न होता है।

**वस्तुतः** हम सब एक हैं, अखंड हैं, सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, एक का सुख-दुःख, दूसरे का सुख-दुःख है। उठना है तो सबको एक साथ उठना होगा, सुख दूँढ़ना है तो सबको उसे बाँटना होगा। खंडित व्यक्ति स्वार्थ की संकुचित सीमा में रहकर अपने शरीर के लिए कुछ भी कितना ही इकट्ठा क्यों न कर ले, पर इससे

उसे कोई चैन न मिलेगा। जब तक हम “अपने को सबमें और सबको अपने में” न देखने लगेंगे, तब तक मानव अपनी महानता से, मानवता से वंचित ही बना रहेगा।

एक-दूसरे के प्रति आत्मीयता, ममता, स्नेह, उदारता, क्षमा, करुणा की दृष्टि से देखें और जो कुछ अपने पास है उसका लाभ दूसरों को देने के लिए प्रस्तुत रहें, तभी मनुष्य की मनुष्यता सार्थक हो सकती है। आध्यात्मिकता का संदेश है कि हम में से हर कोई अपने भीतर दृष्टि डाले, अंतर्मुखी होकर देखे कि उसके भीतर कितनी प्रचुर मात्रा में दैवी संपत्ति भरी पड़ी है। यदि वह उसे जान ले, देख ले और उसका सदुपयोग करने लगे, तो मरने के बाद नहीं, इसी जीवन में आज ही स्वर्ग का आनंद ले सकता है। यह कथा-कल्पना नहीं, वरन् सुनिश्चित तथ्य है कि अपने आपको जान लेने पर मनुष्य सब कुछ जान सकता है। अपने आपको सुधार लेने पर संसार की हर बुराई सुधर सकती है। अपने को बना लेने पर बाहर के जगत में सब कुछ बन सकता है, अपने को विकसित कर लेने पर बाहर की सारी गिरावट उत्कृष्टता में परिणत हो सकती है। व्यक्ति महान बने, समाज महान बने तथा सारी बसुधा महानता से ओत-प्रोत हो यह मिशन लेकर हमको उठना है। जब तक हम जीवित हैं, तब तक इसी प्रयत्न में लगे रहेंगे।

दूसरे हम से भिन्न नहीं, हम दूसरों से भिन्न नहीं, इसी मान्यता में अध्यात्मवाद का सारा रहस्य सन्निहित है। दूसरों की पीड़ा जब पीड़ा लगने लगे, दूसरों को सुखी और समृद्ध देखकर जब अपने भीतर संतोष और हर्ष की लहर लहराए, तब समझना चाहिए कि हम आध्यात्मिकता के वास्तविक स्वरूप को पहचानने और ग्रहण करने की स्थिति में पहुँच रहे हैं। जब तक व्यक्ति अपने को समाज से भिन्न समझता है, लोकहित से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को अधिक महत्व देता है, तब तक वह मानवीय आदर्शों से पतित ही माना जाएगा।

आत्मा अखंड है। हम सब एक ही नाव के यात्री, एक ही मंजिल के रही हैं, एक ही डाल पर रहने वाले पक्षी, एक ही बिल में रहने वाले चीटी-चीटि, परस्पर एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। सबका सुख-दुःख एक है। यदि संसार में पाप बढ़ेगा, तो उसके बुरे प्रतिफलों से पुण्यात्माओं को भी कष्ट सहना पड़ेगा। पेड़ गिर पड़ें, तो उस पर रहने वाले सभी पक्षी आश्रयविहीन होंगे, बिल में पानी भर जाए, तो उसमें रहने वाले सभी कीड़े संकट में पड़ेंगे। मानव जाति का भाग्य एक ही लिपि में लिखा गया है। यदि उत्थान होना है, सुख मिलना है, तो वह सामूहिक ही हो सकता है। चोर लोग अमीर रहना चाहें और सब गरीबी भुगतें, यह स्थिति देर तक नहीं रह सकती। चाहे साम्यवाद हो, चाहे अध्यात्मवाद, दोनों ही दृष्टिकोणों से यह गर्हित माना जाएगा और इसे बदलने का प्रयत्न किया जाएगा।

आत्मा एक व्यापक तत्त्व है वह अनंत और अखंड है। पानी की हर लहर पर एक अलग सूरज चमकता दीखता है, पर वस्तुतः असंख्यों सूर्य कहाँ होते हैं? एक ही सूर्य की आभा तो अगणित लहरों पर स्वतंत्र प्रतिबिंब जैसी दीखती है। आत्मा भी एक है उसकी अखंड-ज्योति एक है। हम लहरों पर चमकने वाले प्रतिबिंबों की भाँति अलग भले ही दिखाई दें, पर वस्तुतः हम सब एक हैं। एक ही ज्वाला की अगणित चिनगारियाँ विभिन्न शरीरों में जलती दीखती हैं, एक ही बिजलीघर की प्रचंड धारा अनेक बल्वों में चमकती है, पर धारा का उद्गम एक है।

इस एकता को जितनी जल्दी हम समझ लें उतना ही उत्तम है। वेदांत का अद्वैत सिद्धांत ही सत्य है। द्वैत मिथ्या है। द्वैत को मिटाकर अद्वैत की प्राप्ति के लिए ही अध्यात्म-शास्त्र और साधना-विज्ञान का आविर्भाव हुआ है। जीव जब अपनी सत्ता को भुला करके ईश्वर में लीन हो जाता है, तब समाधि का, मुक्ति का सुख मिलता है। लौकिक जीवन में भी सुख-शांति का यही मार्ग है।

व्यक्ति अपने संकुचित स्वार्थों की पूर्ति शैली में सोचना छोड़कर समाज की, समूह की बात सोचने लगे, तो सर्वांगीण मुक्ति का वातावरण विनिर्मित हो सकता है। राजनीतिक स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, धार्मिक स्वतंत्रता आदि स्वतंत्रताओं के विविध आंदोलन चलते रहते हैं। आत्मा स्वतंत्र है, वह बंधन में नहीं रहना चाहती। जब छोटी-सी चिड़िया तक पिंजड़े में बंद रहने की पराधीनता स्वीकार नहीं करती और अवसर मिलते ही उन्मुक्त आकाश में उड़ जाती है, तो आत्मा ही क्यों पराधीन रहे? स्वाधीनता की उसकी भूख स्वाभाविक है। यह भूख आत्मिक स्वतंत्रता में ही जाकर पूर्ण होती है। व्यक्ति छोटे से शरीर के लिए, छोटे से कुटुंब के लिए ही सब कुछ सोचे और संसार की कठिनाइयों की ओर से आँखें बंदकर ले, तो यह संकीर्णता, सीमाबद्धता, स्वार्थपरता ही कही जाएगी। इसी भव-बंधन में बँधा हुआ तो प्राणी जन्म-मरण की फाँसी में झूलता रहता है।

संकुचित स्वार्थों की सीमा में अवरुद्ध व्यक्ति तुच्छ है। जो अपनी ही बात सोचता है, अपने ही दुःख से दुखी और अपने ही सुख से सुखी है वह अभागा प्राणी पानी की एक बूँद की तरह है। जिसका अस्तित्व उपहासास्पद ही रहता है। समुद्र में अनेक बूँदों का समूह रहता है, इसलिए समुद्र भी महान है और उसकी हर बूँद भी धन्य है। सूर्य अपनी ज्योति को अपने घर में ही प्रकाशित नहीं रहने देता, वरन् उसकी किरणें लोक-लोकांतरों तक निस्वार्थ भाव से बिखरी रहती हैं। इसी से सविता को देवता कहते हैं। वे मनुष्य भी देवता ही हैं जो ससीमता के बंधन तोड़कर असीम बनते जा रहे हैं, जिन्होंने स्वार्थ को परमार्थ में परिणत करने का निश्चय कर लिया है।

इस संसार का भाग्य और भविष्य एक ही नाव में रखा हुआ है। विज्ञान की प्रगति ने एक एकता को और भी अधिक घनिष्ठ

कर दिया है। इसलिए हमें सुख और दुःख की, लाभ और हानि की, उत्थान और पतन की, जीवन और मरण की समस्या पर व्यक्ति की दृष्टि से नहीं, समूह की, समाज की, संसार की दृष्टि से विचार करना चाहिए। जिसमें सबकी भलाई है, उसी में अपनी भलाई हो सकती है, जिसमें सबका सुख और संतोष है, उसी में हमें भी सुख-शांति मिल सकती है। अपने को सुखी बनाने की इच्छा करने वाले प्रत्येक को विस्मृत दृष्टि से देखना चाहिए और आत्मा की अखंड-ज्योति को एक सीमित क्षेत्र तक संकुचित न रखकर विस्तृत विशाल क्षेत्र में फैलने देना चाहिए। सबके सुख में ही हमारा सुख सन्निहित है।

### समाज और व्यक्ति का उत्कर्ष

जिस समाज में परमार्थ वृत्ति नहीं होगी, उसका अस्तित्व कायम रहना असंभव होगा। अभिभावकों द्वारा बच्चों की सेवा, पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा का ध्यान न रखा जाए और वह वृत्ति समाज में व्यापक बन जाए, तो मानव जाति का हास होने लगेगा। परिवार, समाज, व्यावहारिक संबंधों में परस्पर प्रेम और सहानुभूतिजन्य आत्मीयता की भावनाएँ नष्ट हो जाएँ, तो समाज के अविकसित, असमर्थ, अक्षम लोगों का जीवन निर्वाह कठिन ही होगा और वृद्ध, अपंग, अपाहिज, रोगी, दुखी लोगों का जीवन दूभर हो जाएगा। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ इस परमार्थ, परार्थवृत्ति से जितनी ही शून्य होती जाएँगी, उतनी ही सामाजिक व्यवस्था दोषयुक्त बनती जाएगी। व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थ सिद्धि, समृद्धि के लिए मनुष्य कितना भी क्यों न करे, वह कितना ही संपन्न और वैभवशाली क्यों न बन जाए, किंतु परमार्थ के लिए किसी भी तरह उपयोगी सिद्ध नहीं होता। उससे समाज के विकास में कोई योग नहीं मिलता। साथ ही उसका स्वयं का भी विकास रुक जाएगा। क्योंकि समाज के साथ ही व्यक्ति और व्यक्ति के द्वारा ही समाज का विकास

संभव है। ऐसे व्यक्ति के बारे में सोचकर वेद के ऋषि ने स्पष्ट कह दिया है—

मोघमनं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वधु इत्स तस्य,  
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलादी ॥

“स्वार्थपूर्ण संकीर्ण मनोवृत्ति वाले व्यक्ति ने पास में संग्रहीत धन संग्रह नहीं किया, वरन् अपनी मृत्यु को ही संग्रह कर लिया है। जो अपने भाई-बहन को कुछ नहीं देता, जो अपना ही ख्याल रखता है, अपने लिए ही संग्रह करता है, वह केवल पाप रूप है, वह चोर है”, ऐसा वेद के ऋषि ने स्वार्थ परायण, अपने ही संग्रह में लीन व्यक्ति के लिए स्पष्ट शब्दों में कह दिया है।

स्वार्थ-प्रधान, निजी लाभ रखने के दृष्टिकोण द्वारा सुखी, संपन्न, विकसित समाज का निर्माण नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य आपापूती की भावना से प्रेरित होकर परस्पर छीना-झपटी, एक-दूसरे के प्रति षड्यंत्र, ईर्ष्या-द्वेष में लीन हो जाएगा। समाज में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, संदेह, भय, शंका की वृद्धि होगी और इससे समस्त समाज में विकृतियाँ, दोष पैदा हो जाएँगे। धोखेबाजी, ठगी, भ्रष्टाचार, लूट-खसोट, डकैती, शोषण जैसे भयंकर अपराधों का सूत्रपात मनुष्य की इस स्वार्थ प्रधान, निजी लाभ की संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण ही होता है। व्यक्ति अपने जीवन में कितना भी समृद्ध, शक्तिशाली, संपन्न क्यों न हो, सुख-शांति, आनंद से वंचित रहेगा। क्षण-क्षण, पल-पल उसे नई चिंता, षड्यंत्र, संघर्ष, दूसरों के आक्रमण का सामना करना पड़ेगा। जीवन उसके लिए एक अभिशाप सिद्ध होगा।

समाज में परस्पर सहानुभूति, सौजन्य, सेवा, सहायता, सहयोग, संगठन आदि पर समाज का विकास निर्भर करता है। ये सब परमार्थ, परार्थ, दूसरों के लिए जीवन-दान से ही संभव है। स्वार्थ और संकीर्णता से समाज में विघटन, संघर्ष आदि का ही पोषण होता है।

आवश्यकता इस बात की है कि हमारा जीवन, हमारे प्रत्येक कार्यकलापों का आधार व्यक्तिगत न होकर समष्टिगत हो, सार्वभौमिक हो। रचनात्मक और दूसरों के लिए हितकारी हो। मनुष्य अपने लिए न जिए, वरन् समाज के लिए, संसार के लिए जिए। इसी सत्य पर व्यक्ति का विकास, उत्थान संभव है और साथ ही समाज में परस्पर सहयोग, आत्मीयता, सौजन्य के संबंध कायम होते हैं। विश्व-यज्ञ में मनुष्य का प्रत्येक प्रयास आहुति डालने के सदृश्य हो, तो धरती पर ही स्वर्ग की कल्पना साकार हो उठे।

मनुष्य द्वारा उपार्जित अर्थ सामग्री उसके स्वयं के उपयोग अथवा संग्रह के लिए नहीं, वरन् सदुपयोग के लिए होनी चाहिए। उसका आधार 'सर्वजनहिताय' होना चाहिए। इसीलिए वेद के ऋषि ने आदेश दिया है—“सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से दान कर।” आप्र वृक्ष कुछ ही व्यक्तियों से श्रम-सेवा और पोषण सामग्री प्राप्त करता है, किंतु जो प्राप्त करता है, उसे असंख्यों मधुर फलों में जन-जन को लुटा देता है।

किसी क्षेत्र में शक्ति, सामर्थ्य अर्जित करके मिला हुआ उच्चपद, प्रतिष्ठा बुरी नहीं है। जीवन के सर्वांगीण विकास में इनकी आवश्यकता भी है, किंतु शक्ति, सामर्थ्य, पद, सत्ता का उपयोग गिरे हुओं को उठाने के लिए, जीवन पथ में भटके हुओं को निकालकर आगे बढ़ाने, आगे बढ़ने वालों को सहारा देने में हो तभी इनकी सार्थकता है। जो अपने सामर्थ्य, शक्ति, सत्ता, पद के अभिमान में चूर होकर दूसरों को गिराते हैं, दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, दुःख-कष्ट देते हैं, मानव होकर भी मानवता पर अत्याचार करते हैं, उन्हें सामाजिक व्यवस्थापकों ने कूरकर्मी, पापी, दुष्ट कहकर हेय बताया है। इससे समाज का अहित, विघटन होता है और परस्पर संघर्ष, अशांति, क्लेश को जन्म मिलता है।

आनंदोपभोग करना, खुशियाँ मनाना मनुष्य जीवन की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है। धरती पर जीव का अवतरण ही यहाँ

के सुर-दुर्लभ मानवीय आनंद की प्राप्ति के लिए होता है, किंतु इस तरह के आनंद उपभोग जन-जन के साथ मिलकर, समाज के साथ ही मनाए जाने चाहिए। भारतीय संस्कृति और धर्म में सामूहिक मेले, त्योहार, पर्व, रीति-रिवाज इसी सत्य के प्रतीक हैं। नीतिकारों ने व्यक्तिगत एकाकी आनंदोपभोग को कोई स्थान नहीं दिया। हमारे पर्व, त्योहार, मेले आदि अमीर-गरीब, छोटे-बड़े सबके लिए हैं। सुख भी समाज के साथ, दुःख भी समाज के साथ, यही आनंदोपभोग कर जीवन की कठिनाइयों से तर जाने का मूलमंत्र है।

इस तरह हमारे जीवन की समस्त प्रवृत्तियों का आधार 'बहुजन हिताय' परमार्थ, परार्थ-परायणता ही होना चाहिए, स्वार्थ-परायणता नहीं। इसी में हमारे स्वयं के और समाज के जीवन के विकास, प्रगति का मंत्र सन्निहित है। सबका हित, सबका सुख, सबका लाभ कल्याण हमारा जीवनदर्शन होना चाहिए। मंत्र-दृष्टा ऋषि ने इसी सत्य की प्रेरणा देते हुए कहा है—

“सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।  
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाज्यात ॥”

“सभी सुखी हों, सभी निरामय हों, सब मंगलमय हों, कोई दुखी न रहे ।”

समूहगत प्रयत्नों में ही विकास, उन्नति, कल्याण का रास्ता निहित है। हमें अपने समस्त भेदभाव स्वार्थ-प्रधान लाभ, हानि, अपनेपन की भावना छोड़, सम्मिलित प्रयत्नों से विकास-यात्रा पर चलने के लिए दृढ़ प्रयत्न करना आवश्यक है, तभी हमारा और समाज का उज्ज्वल भविष्य निर्माण होगा।

### सहयोग की आवश्यकता

कई लोग कहते हैं—“मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं। मुझे किसी का परामर्श नहीं चाहिए, मेरे पास दिमाग है, शक्ति है, हाथ हैं, पाँव हैं। मैं सब अपने आप कर लूँगा।” इस तरह की

डाँग हाँकते हुए बहुत से लोग देखे जा सकते हैं, जो अपने आपको सर्वगुण संपन्न समझते हैं। वैसे स्वावलंबी, आत्मविश्वासी, साहसी होना एक अनिवार्य गुण है, किंतु सही-सही सूझ-बूझ के और विवेक के अभाव में गुण भी भयंकर दोष बन जाते हैं, जो मनुष्य को पतन और विनाश के गर्त में ढकेल देते हैं। अनाड़ी और अविवेकी ड्रायवर कीमती गाड़ी को भी टकराकर चूर-चूर कर देता है। इसके विपरीत संतुलित, समझदार ड्रायवर खराब गाड़ी को भी मंजिल तक पहुँचा देता है। दूसरों के सहयोग की उपेक्षा करने वाले, दूसरों के परामर्श, अनुभवों से लाभ न उठाकर अपनी बुद्धि को ही सबसे अधिक समझने वाले उन हठी, अनाड़ी व्यक्तियों में से हैं जो अपनी मूर्खता की कुल्हाड़ी अपने भविष्य रूपी पैरों में स्वयं ही मारते हैं।

ईट-से-ईट जोड़कर ही विशाल भवन का निर्माण होता है। बूँद-बूँद मिलकर ही नदी, सरोवर, सागर बनते हैं। जल का प्रत्येक कण अपना अस्तित्व अलग रखेगा, तो उसकी कितनी हस्ती होगी इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। एक मिट्टी का कण, सूरज की क्षीण-सी रोशनी उसे सुखा देगी, हवा का एक झोंका उसे छिन-भिन कर देगा। अनेक व्यक्तियों के परस्पर सहयोग से ही एक-दूसरे की उन्नति एवं विकास संभव है और इसी पर समाज, राष्ट्र की समृद्धि निर्भर करती है। प्रत्येक निर्माण कार्य में अनेक मजदूरों के खून-पसीने का योग होता है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक सीमा होती है। डॉक्टर चिकित्सा क्षेत्र में विज्ञ होता है, तो एक कलाकार अपनी कला में, राजनीतिज्ञ राजनीति में, तो साहित्यकार साहित्य में। कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज में एक-दूसरे से नीचा है। दूसरे से अयोग्य है। कलाकार के सामने डॉक्टर अयोग्य है, तो डॉक्टर के सामने इंजीनियर और साहित्यकार के सामने व्यापारी। इस तरह एक क्षेत्र में पूर्ण होकर भी मनुष्य अन्य क्षेत्रों में अपूर्ण, अयोग्य ही

है। अतः उन अंगों की पूर्ति बिना दूसरे के परामर्श, सहयोग के नहीं हो सकती। स्वयं अपने ही क्षेत्र में विकास, उन्नति के लिए मनुष्य को दूसरों के सहयोग, परामर्श की आवश्यकता होती है। डॉक्टर बनने के लिए कितने ही डॉक्टरों के ज्ञान, सहयोग, मार्गदर्शन की आवश्यकता पड़ती है। विचारक को अन्य अनेकों की विचारधारा का ज्ञान रखना पड़ता है।

विकास सहयोग से ही होता है। एक पीढ़ी के उपार्जित ज्ञान, अनुभव, असफलताओं की जानकारियों से लाभ उठाकर दूसरी पीढ़ी उससे अनुसंधान का सहारा लेकर नए तथ्यों की खोज करती है।

समन्वय, सहयोग, समाज के साथ मिलकर कदम बढ़ाने में ही एक-दूसरे की उन्नति एवं विकास निर्भर करते हैं। जो जीवन में इसे स्वीकार नहीं करता, अपने हठ और अनाढ़ीपन को महत्व देता है, उसकी दुर्गति निश्चित है। यह बौद्धिक दिवालियेपन है और यही रोग आगे बढ़कर व्यक्ति और समाज दोनों को ही नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जाति-भेद, वर्ण, लिंग-भेद, विभिन्न दल, सांप्रदायिकता, भाषा, भेदभाव के रूप में होने वाले संघर्ष, व्यक्ति-व्यक्ति में होने वाली तनातनी आदि विसंगतियाँ इसी बौद्धिक दिवालियेपन की निशानी हैं। परस्पर के सहयोग, समझौते, समन्वय से असंभव को संभव बनाया जा सकता है, तो इसके अभाव में परस्पर टकराकर नष्ट भी हो सकते हैं।

व्यावहारिक जीवन में परस्पर उदारता, गुण-ग्राहकता का अभाव सहयोग, समन्वय के मार्ग की प्रारंभिक कमी है और इस कमी से वह अपने आपको असफल ही बनाता है। गुण-ग्राहकता के दृष्टिकोण से मनुष्य सामान्य तत्त्वों से भी सहयोग लेकर अपने ज्ञान एवं शक्ति-सामर्थ्य को विकसित करके सफल हो सकता है, किंतु बहुधा लोग अभिमानवश दूसरों के गुणों को ग्रहण करने में उनसे परामर्श करने में अपना अपमान समझते हैं। महर्षि दत्तात्रेय ने पशु-

पक्षियों आदि को मिलाकर अपने २४ गुरु बनाए थे। एक आज का समय है, जब कोई व्यक्ति किसी के हित की बात कहे, तो बहुत से लोग इसे अपमान समझकर उसका उलटा प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाते हैं।

व्यावहारिक जीवन में सबसे आवश्यक बात है खुले दिल से दूसरों से सीखना और इसी तरह दूसरों को सिखाना, उन्हें प्रोत्साहन देना। हमारी विभिन्न कलाओं के ज्ञान आदि के लुप्त हो जाने, उनका विकास रुक जाने का यह भी कारण रहा है कि लोगों ने दूसरों से सीखना अपने लिए अपमानजनक समझा। किंतु यह तो संकीर्णता भरी भारी भूल है। दूसरों को सिखाने, उन्हें प्रोत्साहन देने में तो स्वयं की शिक्षा और उन्नति छिपी हुई है। जो दूसरों को कुछ भी नहीं सिखाएगा, उसकी कला, विद्या, योग्यता का विकास भी रुक जाएगा।

परस्पर प्रोत्साहन न देना हमारे व्यक्तिगत सामाजिक जीवन की एक बहुत बड़ी कमजोरी है। किसी को प्रोत्साहन भरे दो शब्द कहने की बजाए लोग उसे खरी-खोटी, असफलता की बातें कर निरुत्साहित करते हैं, हिम्मत को तोड़ते हैं, जिससे दूसरों को निराशा, असंभावनाओं का निर्देश मिलता है और हमारे सामाजिक विकास में गतिरोध पैदा हो जाता है। मनुष्य के सद्गुणों को सही दिशा में प्रोत्साहित करके उसकी प्रगति का मार्ग खोलने के लिए उदार होना स्वयं के विकास के लिए भी प्रयत्न करना है। खेद है अनेक होने वाले कवि, कलाकार, समाज-सेवक, तत्त्वदर्शी, विचारक, साहित्यकार प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन न मिलने, उचित शिक्षा से बंचित रहने के कारण जीवन की असफलताओं से युक्त दीन-हीन परिस्थितियों में असहाय पड़े रह जाते हैं।

पारस्परिक सहयोग का मानव जीवन में अत्यधिक महत्व माना गया है। हमें दूसरों के सहयोग से लाभ भी उठाना चाहिए और

अपनी क्षमताओं को दूसरे के काम आने देने के लिए उदार बुद्धि रखनी चाहिए। एकाकीपन एवं स्वार्थपरता तुच्छता का चिह्न है। यह मानसिक संकीर्णता, भीरुता और घृणा की अभिव्यक्ति मात्र है। सबसे अलग रहकर अपनी ही बात सोचते रहना आध्यात्मिक आदर्श भी नहीं है। इसे एक प्रकार की जड़ता कहा जा सकता है। प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि स्वास्थ्य और सौंदर्य की अधिक अनुभूति के लिए प्रकृति के निकट सान्निध्य में रहने की निवास व्यवस्था बनाते थे। उपवनों और उद्यानों में कुटिया बनाकर रहते थे। यह उनकी एक निवास-पद्धति मात्र थी। मन की दृष्टि से वे निरंतर लोक-सेवा और लोक-कल्याण की बात सोचते और वैसे ही कार्यक्रम बनाते थे। उनका उस प्रकार का जीवन-क्रम कदापि न था जैसा कि आजकल एकाकी अकर्मण्य लोगों ने अपना रखा है।

समाज का ऋण हर एक पर है, उसे चुकाना ही चाहिए। इस ऋण से उऋण हुए बिना कोई व्यक्ति जीवनलक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता। हमें अपनी विचारपद्धति में सामूहिकता के लिए, सामाजिकता के लिए, समन्वय और सहिष्णुता के लिए समुचित स्थान रखना चाहिए। इसी में अपनी भलाई है और इसी में समस्त मानव जाति का कल्याण सन्निहित है।

## परस्पर स्नेह-संबंधों का निर्वाह

भली और बुरी प्रवृत्तियाँ सभी में होती हैं और वे अपने अनुकूल अवसरों पर धूप-छाँह की तरह छिपने-प्रकट होने का खेल खेलती रहती है। दुर्जनों के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर सज्जनों का प्रसुप्त क्रोध भी एक सीमा तक जाग्रत हो जाता है। इसके विपरीत सज्जनों के संपर्क में आकर क्रोधी और दुर्गुणी भी अपेक्षाकृत विनम्र हो जाते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हर व्यक्ति के अंदर भले और बुरे तत्त्व मौजूद हैं। यथा अवसर वे बढ़ते और घटते हैं। यदि अपना व्यक्तित्व सज्जनता संपन्न हो तो सामने वाले व्यक्ति में

जो थोड़े-बहुत अंश सज्जनता के होंगे उभर आएँगे। यदि अपने में दुर्जनता बढ़ी हुई रही, तो सामने वाले सज्जनों में भी बुराइयाँ जान पड़ेंगी। इस प्रकार अपनी स्थिति के अनुरूप दूसरों में भले-बुरे गुण जाग्रत होना और उनके द्वारा हमें प्रसन्नता या खिन्ता के अवसर मिलना स्वाभाविक ही होगा।

हम अपने आपको जिस प्रकृति का बना लेते हैं, उसी के अनुसार हमारे मित्रों की संख्या बढ़ती है। सज्जनों के मिलने में सुख, सहयोग की प्रतिक्रिया होती और दुर्जनों का जमघट हो जाने से कलेश, द्वेष की घटनाएँ घटित होने लगती हैं। यदि शांति और प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले सज्जनों की मैत्री अभीष्ट हो तो उसका एक ही उपाय है, अपने भीतर की श्रेष्ठता को दिन-दिन बढ़ाते चलना। इस दिशा में जितनी गति होगी, उतना ही अपना संपर्क, समुदाय स्वर्गीय परिस्थितियाँ प्रस्तुत करने लगेगा।

सज्जनों को ही देवता कहते हैं। देवताओं का निवास-स्थान स्वर्ग कहलाता है। जहाँ दुष्ट, दुर्जन इकट्ठे रहते हैं, वहाँ नरक की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य चाहे जीवित हो, चाहे मृतक। अपनी सज्जनता और दुर्जनता के अनुसार अपना स्वर्ग-नरक सदा अपने साथ ही लिए फिरता है। कोई दूसरा उसे इसके लिए विवश नहीं करता। अपना आंतरिक स्तर ही स्वर्ग-नरक के रूप में फलित और परिणत होता रहता है।

हम स्वर्ग चाहते हैं, पर अपनी प्रवृत्तियों को उत्कृष्ट नहीं बनाते, हम नरक से बचना चाहते हैं, पर दुष्प्रवृत्तियों को नहीं छोड़ते, यह कैसे आश्चर्य की बात है। इन विसंगतियों से काम न चलेगा। जो अभीष्ट हो उसी के अनुरूप तैयारी करनी चाहिए। शांति और प्रगति की प्राप्ति के लिए सज्जनोचित गुण, कर्म, स्वभाव बनाना आवश्यक है। बिना आटे के रोटी कैसे बनेगी? बिना कलम के लिखना कैसे संभव होगा? अच्छे गुणों का बाहुल्य हुए बिना न तो सज्जनों में अपना स्नेह संबंध बढ़ेगा और न उनकी सज्जनता का

लाभ ही प्राप्त हो सकेगा। ऐसी दशा में सज्जनों के स्नेह संबंधों द्वारा प्राप्त होने वाली सुखद अनुभूतियों से वंचित ही रहना पड़ेगा।

मनुष्य समाज का निर्माण इस रीति से हुआ है कि उसमें परस्पर मिल-जुलकर रहने और सद्भावों की स्थिरता होने से ही जीवन-क्रम का ठीक प्रकार चलते रह सकना संभव हो सकता है। जिसके जितने प्रेमी, मित्र, स्वजन और सहयोगी होंगे, वह उतना ही प्रसन्न रहेगा और उतनी ही प्रगति कर सकेगा। जो शत्रुओं से घिरा है, जिसे चारों ओर से निंदा, उपेक्षा एवं तिरस्कार ही प्राप्त होता है उसके लिए कोई महत्वपूर्ण प्रगति कर सकना संभव नहीं, भले ही वह कितना ही बुद्धिमान क्यों न हो। इसके विपरीत कम योग्यता वाले व्यक्ति भी मित्रों और सहयोगियों की सहायता, सद्भावना के बल पर उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँचते देखे गए हैं।

पारस्परिक सहयोग से मानव जीवन को प्रगतिशील बनाने की अत्यधिक आवश्यकता है। लोग चाहते भी हैं कि उनके मित्रों, प्रशंसकों और सहयोगियों की संख्या बढ़े, पर यह भूले रहते हैं कि इसका मूल आधार क्या है? किन उपायों से हम दूसरों का स्नेह, सहयोग प्राप्तकर सकते हैं, उसकी ओर ध्यान देने से अभीष्ट उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता और मनुष्य को मित्र-रहित, तिरस्कृत, उपेक्षित एवं एकाकी जीवन व्यतीत करने को विवश होना पड़ता है।

अपने स्वभाव में मधुरता, शिष्टता, प्रेम, उदारता एवं आत्मीयता की समुचित मात्रा रखने से उसका प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। इस चुंबकत्व से प्रभावित होकर वे अनायास ही सौजन्यपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं। दूसरों का सम्मान करने के बदले में हमें स्वयं सम्मान मिलता है। जो दूसरों से उदारता और भलमनसाहत का व्यवहार करेगा, उसे वैसा ही प्रत्युत्तर भी मिलेगा। यह संसार पक्के कुए में मुँह डालकर बोली हुई वाणी की तरह प्रतिध्वनि उत्पन्न करता है। अपने व्यवहार के अनुसार ही दूसरों की प्रतिक्रिया

उपलब्ध होती है। क्रोधी, अनुदार, संकीर्ण, स्वार्थी और तुच्छ स्वभाव के मनुष्य शत्रुओं और निंदकों से ही घिरे रहते हैं, उन्हें हर जगह असहयोग और दुर्व्यवहार का ही शिकार होना पड़ता है।

दूसरों की शिकायत करने और उनके दोष ढूँढ़ने से पहले हमें अपनी ओर देखना चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि हमें बात-बात में आवेश तो नहीं आता। अधीरता और क्षुद्रता ने हमें ग्रसित तो नहीं कर रखा है। स्वार्थ और अनुदारता की इतनी मात्रा तो नहीं बढ़ गई है कि दूसरों को अखरने वाली स्थिति अनुभव होने लगे। अशिष्टता बरतने और दूसरों की उपेक्षा करने वाले व्यक्ति को यह आशा क्यों करनी चाहिए कि अन्य व्यक्ति उस पर अहेतुकी कृपा करें और अकारण ही उसका सहयोग करने लगें।

दूसरों से बड़ी-बड़ी आशाएँ करने से पहले हमें अपने रखैये में ऐसा परिवर्तन करना पड़ेगा कि दूसरे हमें अपना सहयोगी, प्रेमी और मित्र अनुभव कर सकें। यह तभी संभव है जब हम अपने स्वभाव में घुसी हुई बुराइयों को ढूँढ़ने और उन्हें हटाने के लिए सच्चे मन से प्रयत्न करने में लग जाएँ। अपना सुधार होने से दूसरों का सुधरा हुआ व्यवहार हमें अनायास ही मिलने लगेगा। मित्रों का स्थायित्व सद्गुणों पर निर्भर रहता है। तुनकमिजाज, अस्थिर चित्त और सनकी आदि एक-एक करके मित्र और सहयोगियों से वंचित होते जाते हैं और अंततः उनका जीवन अभावों और कठिनाइयों से ग्रसित होकर पतन की ओर ही अग्रसर होने लगता है। यह परिस्थिति अपने जीवन में न आए इसलिए पहले से ही सतर्कता बरतनी चाहिए और अपने स्वभाव को अधिकाधिक परिष्कृत बनाने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए।

### **सहयोग-भावना मानवता की प्रतीक है**

सांसारिक उन्नति और सुखपूर्वक जीवन निर्वाह के लिए तो सहयोग की आवश्यकता सभी स्वीकार करते हैं, पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है

कि अधिकांश मानवीय सद्गुणों और धर्म का मूल मानी जाने वाली सद्वृत्तियों का भी इससे बहुत अधिक संबंध है। जिन व्यक्तियों में सहयोग की वृत्ति का उचित रूप में विकास हो जाता है, उनमें 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना भी जाग्रत हो जाती है। वे अनुभव करने लगते हैं कि संसार में जितने भी प्राणी हैं वे वास्तव में एक ही वृहत परिवार के अंग स्वरूप हैं और उनमें जितना अधिक सहयोग, एक्य, मित्रता की भावना का प्रसार होगा, उतना ही सबका लौकिक-पारलौकिक हित-साधन हो सकेगा।

यों तो आरंभ से ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसने जो कुछ उन्नति, प्रगति की है उसका श्रेय अधिकांश में उसकी सहयोग वृत्ति को ही है। मनुष्य ने इस पृथ्वी को जो अपने निवास योग्य बनाया है, बड़े-बड़े पर्वतों, जंगलों, सागरों में घुसकर जो जीवन निर्वाह के साधन खोज निकाले हैं, जिन लाखों की आवादी वाले, सुख-सुविधापूर्ण नगरों का निर्माण किया है और सड़कें, रेल, तार, जहाज आदि का विस्तार करके सारी दुनिया को एक घर के समान बना दिया है, इस सबका मूल आधार सहयोग की प्रवृत्ति ही है। व्यापार-व्यवसाय, उद्योग-धंधे, शिक्षा-प्रचार, सुरक्षा की व्यवस्था के क्षेत्रों में भी आज जो बड़ी-बड़ी योजनाएँ सफल होती दिखाई पड़ रही हैं वे सहयोगमूलक प्रवृत्तियों का ही परिणाम हैं। इतना ही क्यों ज्ञान-विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति, समाज-सेवा करने वाली विशाल संस्थाएँ, लोक-कल्याण के लिए की जाने वाली युग परिवर्तनकारी योजनाएँ, सभी की सफलता का आधार मनुष्यों का पारस्परिक सहयोग ही होता है। मनुष्य जितने अधिक परिमाण में और जैसी हार्दिकता के साथ सहयोग-भावना का परिचय देते हैं, उतनी ही अधिक सफलता इन विषयों में मिलती है।

इस सांसारिक सफलता से भी बढ़कर महत्वपूर्ण मानवता की भावना है जो क्रमशः मनुष्य के अंतर में विकसित हो रही है और

जिसके प्रभाव से एक ऐसी मानव-जाति का उदय हो रहा है, जो भविष्य में वैसे ही पारस्परिक प्रेम और सौहार्द के साथ रह सकेगी, जैसे आज एक कुटुंब या परिवार के व्यक्ति रहते हैं। कुछ लोगों को यह एक असंभव कल्पना जान पड़ेगी और वे वर्तमान विश्वव्यापी संघर्ष की घटनाओं को देखकर इसे एक सुहावना स्वप्न मात्र बतलाएँगे, पर वास्तव में वे एक विचार की दृष्टि से देखना नहीं जानते। एक समय था कि सभी मनुष्य बहुत छोटे-छोटे समुदायों में बैठे थे और वे आपस में लड़ते-झगड़ते, एक-दूसरे की हत्या ही नहीं करते रहते थे, वरन् एक-दूसरे को मारकर खा जाने में भी कोई दोष नहीं समझते थे। उस अवस्था से परिवर्तित होते-होते मनुष्य अब ऐसी स्थिति में आ पहुँचे हैं कि संसार में प्रतिवर्ष सैकड़ों, हजारों व्यक्ति ऐसे निकल आते हैं जो बिना किसी स्वार्थ या संबंध के अपरिचित व्यक्तियों की रक्षार्थ प्राण दे देते हैं। आज ऐसे व्यक्तियों की भी नितांत कमी नहीं है, जो मानवता के हित को अपने स्वार्थ या सुख की अपेक्षा अधिक महत्त्व का मानते हैं और संसार की भलाई के कामों में सच्चे हृदय और निःस्वार्थ भाव से योग देते हैं। इन सब बातों को देखकर निश्चय होता है कि सहयोग कृत्रिम या क्षणस्थायी चीज नहीं है, वरन् वह मनुष्य की आंतरिक प्रकृति का एक अंश ही है और जैसे-जैसे मनुष्य का आत्मिक विकास होता जाएगा, वैसे-वैसे ही उसकी भी वृद्धि होती जाएगी और एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब कि वह दरअसल एक सार्वभौम स्वाभाविक प्रवृत्ति का रूप ग्रहण कर ले।

सहयोग की प्रवृत्ति से मनुष्य के हृदय में जो मैत्री भावना उत्पन्न होती है, वह वास्तव में अपने और दूसरों के कल्याण की दृष्टि से मनुष्य का सबसे बड़ा सद्गुण है। संसार में कृष्ण, वेदव्यास, गौतम बुद्ध, महावीर, ईसा आदि मानवता के त्राता महापुरुष हुए हैं, उनकी सबसे बड़ी विशेषता मैत्री-भावना ही थी। वे समस्त प्राणियों को आत्मवत् दृष्टि से देखते थे और उनके

कष्टों को दूर करने के लिए ही अपनी समस्त शक्ति लगाए रहते थे। इन्हीं महापुरुषों की शिक्षा का परिणाम है कि मनुष्य देश और काल के अंतर को भुलाकर धीरे-धीरे मनुष्य मात्र को अपना भाई या संबंधी समझने की तरफ अग्रसर हो रहा है और आज उसके दिमाग में यह विचार पैदा हो चुका है कि संसार के समस्त देशों के भेद-भावों को प्रत्यक्ष रूप में मिटाकर एक मानव-कल्याण की स्थापना की जाए।

यह मानव मात्र की एकता का सिद्धांत कोई नई बात नहीं है। भारतीय मनीषी, तो इसे हजारों वर्ष पूर्व 'वसुधैव कुटुंबकम्' अथवा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' जैसे सूत्रों द्वारा प्रकट कर चुके थे और यहाँ के हजारों भक्तों तथा संतों ने उनके अनुसार आचरण करके भी दिखा दिया था। आज भी भारत और अन्य देशों के महापुरुष इसी सत्य का अनुभव करके उसे संसारव्यापी रूप देने का प्रयत्न कर रहे हैं। यद्यपि ऊपरी दृष्टि से इस समय अधिकांश मनुष्य घोर स्वार्थ की तरफ प्रेरित जान पड़ते हैं और एक ऐसे संघर्ष की तैयारी में संलग्न हो रहे हैं जिससे मानवीय सभ्यता का सर्वनाश ही संभव जान पड़ता है, पर इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि मानवता की एकता का संदेश इस समय सबके कानों तक पहुँच गया है और वह उनकी आत्मा को झकझोर रहा है। जिस बात को पहले केवल थोड़े से मनीषी ही कहते और समझते थे वह अब साधारण लोगों के दिमाग में भी उठने लग गई है। इससे आशा होती है कि नाश के काले बादलों के होते हुए भी अंत में सहयोग का सूर्य ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगा और संसार अंधकारमय प्रदेश से निकलकर सार्वजनिक सुख-शांति के सुप्रकाशित युग में जा पहुँचेगा।

सहयोग तथा मैत्री की यह भावना सामूहिक रूप से संसार का कल्याण करने वाली ही नहीं है, वरन् व्यक्तिगत दृष्टि से भी वह मनुष्य मात्र के लिए हितकारी है। इसके प्रभाव से मैत्री-भाव रखने वाला व्यक्ति सब प्राणियों का सुहृद बन जाता है। जब वह अपने

हृदय में किसी के प्रति शत्रुता का भाव नहीं रखता, तो किसी अन्य के मन में भी उसके प्रति विरोध की भावना उत्पन्न नहीं होती और दुनिया की तरफ से वह निर्भय बन जाता है। यदि संयोगवश उसे कोई कष्ट भी उठाना पड़ता है, तो वह दैवी विधान या आकस्मिक दुर्घटना समझ कर जरा भी क्षुब्ध नहीं होता। वह किसी अन्य मनुष्य को इसका कारण नहीं समझता और इसलिए सब प्रकार की चिंताओं और भयों से मुक्त रहता है। पारस्परिक वैमनस्य या मनोमालिन्य के भावों के निरंतर बढ़ते रहने के कारण जो अगणित कठिनाइयाँ उत्पन्न होकर मानव-जीवन को कष्टपूर्ण बना देती हैं, वह उन सबसे मैत्री-भावना द्वारा ही बच जाता है।

इतना ही नहीं इस प्रकार की मनःस्थिति बन जाने पर मनुष्य की आंतरिक प्रसन्नता, आह्वाद की भावना स्थायी हो जाती है और समयानुसार व्यवहारिक रूप में प्रकट होकर उसको दिन-व-दिन ऊँचा उठाती जाती है। इस भावना की प्रेरणा से मनुष्य सबके सुख-दुःख में आगे बढ़कर भाग लेने लगता है, दीन-दुखी और अभावग्रस्तों की हर तरह से सहायता करने लगता है, सदैव दूसरों की सेवा और सहायता के लिए प्रस्तुत रहता है। ऐसी स्थिति में पहुँच जाने पर अन्य सब लोग भी उसके प्रति प्रेम और आदर की भावना रखने लगते हैं, उसकी बातों को ध्यानपूर्वक सुनते हैं और उसे अपनी शक्ति के अनुसार सहयोग भी देने लगते हैं। संसार में जितने भी बड़े और छोटे समुदाय हुए हैं, उन सबका यही जीवन-क्रम रहा है। ऐसे ही लोग सर्वसाधारण द्वारा नेता, अगुआ या माननीय माने जाते हैं। यद्यपि आज हमारे देश में 'नेता' शब्द की बड़ी दुर्गति हो रही है और 'नेताओं' को हम घोर स्वार्थ के कीचड़ में निमग्न देख रहे हैं, पर इनमें अधिकांश 'स्वयंभू नेता' हैं। वे अपने धन, विद्या, चतुराई या तिकड़म के जोर से नेता बन बैठे हैं, पर उनके भीतर उस मैत्री-भावना का सर्वथा अभाव है, जो महापुरुषों में स्वभावतः होती है। यही कारण है कि ऐसे

‘मौसमी नेता’ अधिक समय तक टिक नहीं पाते। स्थायी प्रभाव और यश उन्हीं को प्राप्त होता है जो हृदय से सबको अपना अनुभव करते हैं और व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्यों में निःस्वार्थ भाव से सहयोग देने को प्रस्तुत रहते हैं।

सहयोग-भावना वाला मनुष्य जिस प्रकार भीतर से शुद्ध भावयुक्त और सबका हित चिंतन करने वाला होता है, उसी प्रकार बाहर से भी सदैव सबके साथ मधुर व्यवहार करने वाला, सहानुभूति रखने वाला तथा विनीत होता है। वास्तव में उसकी आंतरिक मैत्री-भावना के परिणामस्वरूप उसका स्वभाव ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी के प्रति कठोरता अथवा निर्दयता का व्यवहार नहीं कर सकता और जहाँ तक संभव होता है, प्रत्येक की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहता है। इस कारण अन्य लोगों के हृदय पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और सज्जनों का तो कहना ही क्या दुर्जन व्यक्ति भी अधिक समय तक उसके प्रतिकूल नहीं रह सकते। हम जो अनेक संत पुरुषों के जीवन-वृत्तांतों में किसी विरोधी के द्वारा उनके सताए जाने और अंत में स्वयं उनके अनुयायी बनकर पूर्ण सहयोग देने का वृत्तांत पढ़ते हैं, उसका यही रहस्य है। चैतन्य चरित्र में जघाई-मघाई का, तुलसीदास के वृत्तांत में काशी के कई पंडितों का, तुकाराम की जीवनी में पूना के एक ब्राह्मण का जो वर्णन मिलता है वे सब इसी के उदाहरण हैं कि अगर कोई अपनी स्वाभाविक दुष्टतावश या किसी प्रकार की गलतफहमी के कारण किसी सच्चे सहदय व्यक्ति का विरोध करता भी है, तो अंत में उसे अपनी गलती स्वीकार करनी ही पड़ती है। इससे प्रायः उसका हृदय परिवर्तन हो जाता है, उसके जीवन की धारा बदल जाती है और वह विरोध करने के स्थान पर उक्त महापुरुष का सहयोगी बन जाता है।

यह भी कोई आवश्यक बात नहीं कि हम प्रत्येक मैत्री-भावना युक्त सज्जन पुरुष के जीवन में कोई सार्वजनिक सफलता

या स्मरणीय घटनाएँ दृढ़ने का प्रयास करें। ऐसे उदाहरण तो देश, काल के विशेष अवसरों पर किन्हीं दो-चार महापुरुषों के ही मिलते हैं, पर संसार के शांतिपूर्ण विकास में और सहयोग तथा सद्भावना की निरंतर वृद्धि में उन व्यक्तियों का महत्व भी किसी प्रकार कम नहीं है जो चुपचाप दूसरों के हित में संलग्न रहते हैं और दूसरों की भलाई के लिए अपने स्वार्थ की हानि होने की परवाह नहीं करते। ऐसे लोगों के कार्यों और विचारों से स्वयं ही एक पवित्र और उदारतायुक्त वातावरण तैयार होता रहता है। जिसका प्रभाव दूर-दूर तक पड़ता है और जिससे अन्य अनेक लोग भी उसी मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं। ऊपर हमने जो कृष्ण, वेदव्यास, बुद्ध, महावीर, ईसा आदि के उदाहरण दिए हैं, वे तो मानवता के उच्च आदर्श तथा वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के मार्गदर्शक हुए हैं। अगर उनके पश्चात् अन्य लाखों-करोड़ों व्यक्ति उनके उपदेशों के अनुसार आचरण नहीं करते, उनकी शिक्षाओं को कार्य रूप में परिणित करके नहीं दिखाते, तो संसार की इतनी उन्नति और प्रगति कैसे संभव होती? इसलिए यह ख्याल करना हरगिज ठीक नहीं कि इस प्रकार के कार्य या आदर्शों का पालन करना केवल कुछ महापुरुषों या संतों का ही कार्य है। प्रत्येक छोटे-से-छोटा व्यक्ति भी इस मार्ग पर अपनी शक्ति और परिस्थितियों के अनुसार अग्रसर हो सकता है। यदि वह सचाई के साथ इस पर आचरण करता रहेगा, तो एक दिन वह भी किसी उच्च स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेगा।

आवश्यकता केवल इसी बात की है कि हम मनुष्य मात्र की अभिन्नता और सहयोग-भावना के महत्व को हृदयंगम कर लें और इस बात को मन में अच्छी तरह बैठा लें कि व्यक्ति और समष्टि का कल्याण इसी सद्प्रवृत्ति की वृद्धि में ही है। यह केवल सांसारिक उन्नति, शक्ति और सफलता की प्राप्ति, धन और वैभव की वृद्धि के लिए ही आवश्यक नहीं है, वरन् मनुष्य का

आत्म-विकास भी बहुत कुछ इसी पर निर्भर है। इसके द्वारा मनुष्य अन्य लोगों से एकात्मभाव का अनुभव करता है जिससे बैर, घृणा, शत्रुता के दूषित भावों का अंत होकर प्रेम, एक्य और मित्रता के श्रेष्ठ भावों का उदय होता है। यही सब मनुष्यता के प्रधान लक्षण हैं और इन्हीं को ग्रहण करने से मनुष्य अपने नाम को सार्थक कर सकता है।

## कर्मों का सामूहिक फल

कर्मफल के संबंध में मनीषियों का विचार है कि हम जो कर्म करते हैं, उनका फल हमको तो भोगना पड़ता ही है, साथ ही अन्य प्राणियों को भी भोगना पड़ता है। मनुष्य सामाजिक पद्धति पर चलने वाला प्राणी है और उसे अधिकांश नियमों का पालन सामूहिक रूप से करना पड़ता है। इसलिए हमारे कर्मों का फल समूह को मिलेगा और समूह द्वारा किए गए कर्मों के फल भोग में हमारा भी भाग होगा।

समाज व्यवस्था द्वारा उत्पन्न दोषों या श्रेष्ठ कर्मों का फल सभी व्यक्तियों को बाँटकर भोगना है, परंतु जिस व्यक्ति द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, उसे अपने कर्म का अधिकांश भाग भोगना पड़ेगा। कुछ स्वत्यं भाग ही समूह में जाएगा। इस प्रकार व्यक्ति का हित समष्टि में और समष्टि का व्यक्ति में निहित है।

यह विश्वास इसलिए भी आवश्यक है कि इससे परस्पर प्रेम, विश्वास और समत्व-भाव उत्पन्न होता है। इससे हम मानवता की ओर दृढ़तापूर्वक बढ़ेंगे। इसीलिए हमें श्रेष्ठ कर्मों में स्वयं तो प्रवृत्त होना ही चाहिए, साथ ही अन्य लोगों को भी वैसा करने के लिए प्रेरित करना चाहिए।

पृथ्वी के एक भाग में दुर्भिक्ष पड़े और सुभिक्ष की स्थिति उत्पन्न करने के लिए यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म किए जाएँ तो उसका फल सुभिक्ष द्वारा अन्न की उत्पत्ति का लाभ सभी उठाएँगे। केवल कर्ता को ही उस अन्न का लाभ नहीं मिलेगा, हाँ, उसके शुभ कर्म का

फल परोक्ष रूप से उसे अवश्य प्राप्त होगा, जिसकी प्राप्ति इस जन्म अथवा अन्य जन्मों में भी संभव है।

एक व्यक्ति ने कोई धर्मशाला बनवाई तो उसके उस श्रेष्ठ कार्य का थोड़ा-थोड़ा फल वे लोग भी प्राप्त करेंगे, जो उसमें कुछ समय के लिए ठहरेंगे। उसका अप्रत्यक्ष लाभ, धर्मशाला बनवाने वाले को होगा। कुछ भी हो, परंतु प्रत्यक्ष लाभ उसमें ठहरने वालों को तो हुआ ही। इस प्रकार उस शुभ कर्म के फल में सामूहिक भाग स्पष्ट है।

विद्यालय, औषधालय, कुआँ, तालाब, छात्रावास, अन्नक्षेत्र, गौशाला, अनाथालय, धर्म प्रचार आदि शुभ कार्य यद्यपि कर्ता ने अपने आत्म-कल्याण के लिए किए थे, पर उनका लाभ उन कार्यों के संपर्क में आने वाले व्यक्तियों को भी मिलता है और वह कर्ता जिस जाति, समाज, देश या संप्रदाय से संबंधित होता है, उसकी भी प्रशंसा होती है। संसार में समय-समय पर अनेक महापुरुष होते रहे हैं, उनके कारण उस युग, देश और समाज की भी प्रतिष्ठा बढ़ी है जिसमें वे जन्मे। राम के जन्म से अयोध्या और कृष्ण के जन्म से मथुरा का गौरव बढ़ा। गीता-ज्ञान ने संसार में सारे भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया।

सर टामसरो के साथी, डॉक्टर ने अपने देश से आने वाले माल पर से चुंगी माफ कराके सारे इंग्लैण्ड निवासियों को लाभ पहुँचाया। जिन वैज्ञानिकों ने रेल, तार, रेडियो, बिजली, कारखाने के यंत्र, वायुयान, चिकित्सा आदि के आविष्कार किए, उनसे सारी मानव-जाति को लाभ पहुँचा। धर्म, सदाचार, अध्यात्म, सहयोग, सहिष्णुता, संयम, समानता आदि के आदर्शों का जिन विद्वानों ने प्रतिपादन और प्रसार किया, उन्होंने भी समस्त मानव जाति के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। स्वतंत्रता युद्ध के संयोजकों और बलिदानियों के प्रयत्न का फल आज समस्त भारतवासी राजनैतिक स्वाधीनता के रूप में उपलब्ध कर रहे हैं।

जिस प्रकार व्यक्ति के सत्कर्मों का लाभ सारे समाज को मिलता है, वैसे ही उसके दुष्कर्मों का परिणाम भी दूसरों को भुगतना पड़ता है। डाकू, चोर और जेबकट अपने कृत्यों से अगणित मनुष्यों को हानि पहुँचाते और क्षुभित करते हैं। गुंडों की उदादंडता का फल अगणित शांतिप्रिय नागरिकों को भुगतना पड़ता है। गंदे लोग हमेशा हैंजा आदि रोगों से ग्रसित होते हैं और उनकी छूत से बीमारी दूर-दूर तक फैल कर अनेकों के लिए प्राणघातक संकट उत्पन्न कर देती है। व्यसनी, व्यभिचारी, नशेबाज, जुआरी अपनी बुरी आदतें दुर्बल मस्तिष्क के अनेक लोगों को सिखा कर उन्हें भी अपने जैसा ही बना लेते हैं।

व्यक्ति सर्वथा एकाकी नहीं है। वह समाज का एक अंग है। इसलिए उसके भले-बुरे कार्यों का प्रभाव केवल उसी तक सीमित नहीं रहता, वरन् सारे समाज को भुगतना पड़ता है। पेट में विकार हो जाए, दरद होने लगे, तो उससे केवल पेट को ही हानि नहीं है, वरन् सारे शरीर की ही व्यवस्था बिगड़ती है। मस्तिष्क यदि प्रचुर विद्या और ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसका लाभ केवल सिर को ही नहीं मिलता, वरन् उस ज्ञान के फलस्वरूप सभी अंगों के लिए सुख-साधन उपलब्ध होते हैं। यही बात व्यक्ति के संबंध में भी है।

इसलिए दूसरों के भले-बुरे कार्यों की ओर ध्यान रखना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। हमें अपने काम-से-काम, अपने मतलब-से-मतलब कहने मात्र से काम नहीं चल सकता। ऐसा करने से बुरों का विरोध न हो सकेगा और वे मनमानी करके अपनी दुष्टता बढ़ाते हुए दूसरे लोगों के लिए दिन-दिन अधिक भयंकर बनते चलेंगे। उसी प्रकार सज्जनों के कार्यों में प्रोत्साहन या सहयोग न दिया जाए, तो वे भी निराश होकर चुप बैठ रहेंगे और उनके कार्यों से अनेक को जो लाभ हो सकते थे वे न हो सकेंगे।

बाढ़, भूकंप, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, युद्ध आदि दैवी प्रकोपों को मानव-जाति के सामूहिक पापों का परिणाम

माना गया है। निर्दोष व्यक्ति भी गेहूँ के साथ धुन की तरह पिसते हैं। वस्तुतः वे भी निर्दोष नहीं होते। सामूहिक दोषों को हटाने और धटाने का प्रयत्न न करना, उसकी ओर उपेक्षा दृष्टि रखना भी एक पाप है। इस दृष्टि से निर्दोष दीखने वाले व्यक्ति भी सदोष सिद्ध होते हैं और उन्हें सामूहिक दंड का भागी बनना पड़ता है।

किसी नगर में बड़े पैमाने पर उपद्रव होने पर उस सारे नगर पर सरकार सामूहिक आर्थिक दंड लगाती है और निर्दोषों से भी जुरमाना वसूल करती है। उन निर्दोषों का कसूर यह माना जाता है कि उन्होंने अपने क्षेत्र में दुष्कर्म होते हुए भी उसे रोकने में उपेक्षा बरती, कायरता दिखाई, शांति स्थापना के लिए प्रयत्न न किया, इसलिए वे भी अपराधी हैं।

समाज में हो रही बुराइयों को रोकने के लिए ईश्वर ने ऐसी ही सामूहिक जिम्मेदारी हर व्यक्ति को सौंपी हैं। उसका कर्तव्य है कि अनीति जहाँ कहीं हो रही है उसे रोकें, धटाने का प्रयत्न करें, विरोध करें, असहयोग बरतें। जो भी तरीका उसको अनुकूल जँचे उसे अपनाएँ, पर कम-से-कम इतना तो होना ही चाहिए कि उस बुराई में अपना सहयोग प्रत्यक्ष और परोक्ष किसी भी रूप से न हो। बुरे कामों की प्रशंसा तो कदापि न की जाए, उनके प्रति भर्त्सना, धृणा और विरोध की भावना तो अवश्य ही रखी जाए।

इसी प्रकार सत्कर्मों के समर्थन, सज्जनों के सम्मान एवं प्रोत्साहन के लिए हम में हर व्यक्ति को कुछ-न-कुछ करना चाहिए। ऐसे लोकोपयोगी कार्यों में यथासंभव योगदान देना चाहिए। कम-से-कम उनकी प्रशंसा करना और स्वभाव रखना, तो नितांत आवश्यक ही है।

हम सब अलग-अलग होते हुए भी एक समाज के अंग हैं। एक नाव में बैठे हैं। यदि एक व्यक्ति नाव के पैंदे में छेद करे तो अन्य यात्रियों का कर्तव्य है कि उसे ऐसा करने से रोकें क्योंकि उसके छेद करने से औरों का जीवन भी संकट में पड़ जाएगा।

सामाजिक सुव्यवस्था एवं धर्म मर्यादाओं के स्वयं पालन करने और दूसरों से पालन कराने में भी हमारा यही दृष्टिकोण रहना चाहिए।

## स्वार्थ ही नहीं परमार्थ को भी साधें

भगवान ने मनुष्य को इतनी सारी सुविधाएँ, विशेषताएँ इसलिए नहीं दी हैं कि वह उनसे स्वयं ही मौज-मजा करे और अपनी काम-वासनाओं की आग को भड़काने और फिर उन्हें बुझाने के गोरखधंधे में लगा रहे। यदि मौज-मजा करने के लिए ही ईश्वर ने मनुष्य को इतनी सुविधाएँ दी होतीं और अन्य प्राणियों को अकारण इससे वंचित रखा होता, तो निश्चय ही वह पक्षपाती ठहरता। अन्य जीवों के साथ अनुदारता और मनुष्य के साथ उदारता बरतने का अन्याय भला वह परमात्मा क्यों करेगा, जो निष्पक्ष, जगत-पिता, समदर्शी और न्यायकारी के नाम से प्रसिद्ध है।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य को जो कुछ बुद्धि, प्रतिभा, योग्यता, भावना, वाणी, विद्या, चतुरता, संपत्ति, कला, सौंदर्य, विज्ञान, सत्ता आदि विभूतियों का वरदान मिला है, वह एक प्रकार की सार्वजनिक अमानत है। राजकोष की चाबी खजानची के पास रहती है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह खजाना उसके व्यक्तिगत उपयोग के लिए है। फौजी गोला-बारूद और सेना को आज्ञा देने का अधिकार सेनाध्यक्ष के हाथ में रहता है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि इन सब चीजों का उपयोग वह अपने लाभ के लिए करने लगे। सिक्का ढालने वाले, नोट छापने वाले कर्मचारी अपने निज के लिए यह ढलाई या छपाई करने लगें, तो क्या उचित कहा जाएगा? सरकारी राज-काज चलाने के लिए बड़े-बड़े अफसर, अधिकारी नियुक्त रहते हैं। उनको जो सत्ता प्रदान की जाती है, उसका उपयोग उन्हें राज-काज के लिए ही करना पड़ता है, अपने निज के लिए तो वे सिर्फ उतना ही खरच कर सकते हैं, जितना उन्हें वेतन मिलता है। मनुष्य भी परमात्मा का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण एक प्रकार से युवराज, मंत्री, कोषाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, अफसर जैसे पद पर नियुक्त

हुआ है। उसे अन्य प्राणियों की तुलना में जो कुछ अधिक मिला है, वह सब ईश्वरीय प्रयोजनों को पूर्ण करने के लिए है।

राजा अपने हाथ में रहने वाली सत्ता का ठीक तरह से संचालन करने के लिए जिस प्रकार अपना मंत्रिमंडल नियुक्त कर लेता है, मनुष्य की नियुक्ति इसी प्रकार हुई है। निजी खरच के लिए तो उसको उतना ही वेतन मिला है जितना अन्य प्राणियों को। साम्यवादी देशों की सरकारें अपने कर्मचारियों के वेतन में उनकी योग्यता के अनुरूप थोड़ा अंतर तो रखती है, पर वह अंतर होता बहुत ही स्वल्प है। अन्य प्राणी आहार, विश्राम आदि की उतनी ही सुविधा पाते हैं, जितनी प्रकृति उन्हें देती है। मनुष्य स्वादिष्ट व्यंजन, सरदी-गरमी निवारण करने के लिए वस्त्र, सुविधाजनक मकान, वाणी, लेखन, अग्निवाहन, अस्त्र-शस्त्र, उपकरण, संगठित समाज, शासनतंत्र आदि की विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त करता है। यह उसका विशेष वेतन है। इतना प्राप्त करके उसे संतुष्ट और प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि अन्य प्राणियों की तुलना में यह वेतन भत्ता बहुत अधिक है।

जीवनोपयोगी अनिवार्य सुविधाएँ उपार्जित करने के बाद मनुष्य को अपनी शेष शक्ति और प्रतिभा का उपयोग जनकल्याण के लिए लोकहित के लिए, सद्भावनाओं की अभिवृद्धि के लिए करना चाहिए। यही उसकी ड्यूटी और नौकरी है। जो इसे पूरी नहीं करता, वह एक प्रकार का अपराधी माना जाएगा और कर्तव्य-पालन की उपेक्षा करने का दंड प्राप्त करेगा। राज-कर्मचारियों पर कोई निजी कारोबार न करने का प्रतिबंध रहता है। कारण यह है कि सरकार जानती है कि जीवन निर्वाह के लिए दिए जाने वाले वेतन पर संतुष्ट न रहकर यदि कर्मचारी अधिक उपार्जन के लालच में पड़ा रहेगा, तो सरकारी काम की उपेक्षा करेगा, इसलिए उसे सचेत कर दिया जाता है कि नियत घंटे सरकारी ड्यूटी में लगावे ही, साथ ही बचे हुए घंटे को अपनी योग्यता, शक्ति और प्रसन्नता

बढ़ाने में लगाए, ताकि इयूटी के काम पूरे करने में कोई विघ्न उत्पन्न न हो। इस प्रतिबंध का उल्लंघन करके निजी सुख-साधनों को जुटाने और निजी मौज-मजा करने में यदि कोई कर्मचारी लगा रहने लगे और सरकारी इयूटी को तिलांजलि दे दे, तो उसे राजा का कोपभाजन बनना पड़ेगा और अपराध का दंड भी मिलेगा। ईश्वरीय उद्देश्यों को पूर्ण करने में अपनी शक्ति और क्षमता लगाने के लिए गर्भकाल में ही जिससे इकरारनामा लिखा लिया जाता है, वह मनुष्य यदि अवसर आने पर धोखा दे, उपलब्ध क्षमताओं को समाज-हित की अपेक्षा स्वार्थ साधन में लगाने लगे, तो उसका यह कार्य अनुचित भी माना जाएगा और अपराध भी।

मनुष्य का जीवन स्वार्थ के लिए, परमार्थ के लिए है। शास्त्रों में अपनी कर्माई को आप ही खा जाने वाले को चोर माना गया है। सौ हाथों से कमाने और हजार हाथों से दान करने की नीति पर चलने की प्रवृत्ति हर किसी को अपनानी चाहिए। जो मिला है उसे बाँटकर खाना चाहिए। मनुष्य को जो कुछ अन्य प्राणियों के अतिरिक्त मिला हुआ है, वह उसका अपना निज का उपार्जन नहीं, वरन् सृष्टि के आदि से लेकर अब तक के श्रेष्ठ सत्पुरुषों के श्रम और त्याग का फल है। यदि ऐसा न हुआ होता तो मनुष्य भी एक दुर्बल वन्य पशु की तरह, रीछ-बंदरों की तरह अपने दिन काट रहा होता। इस त्याग और उपकार की पुण्य प्रक्रिया का नाम ही धर्म, संस्कृति एवं मानवता है। उसी के आधार पर प्रगति पथ पर इतना आगे बढ़ आना संभव हुआ है। यदि इस पुण्य प्रक्रिया को तोड़ दिया जाए, मनुष्य केवल अपने मतलब की ही बात सोचने और उसी में लगे रहने की नीति अपनाने लगे, तो निश्चय ही मानवीय संस्कृति नष्ट हो जाएगी और ईश्वरीय आदेश के उल्लंघन के फलस्वरूप जो विकृति उत्पन्न होगी, उससे समस्त विश्व को भारी त्रास सहन करना पड़ेगा। परमार्थ की उपेक्षा करना अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारना है। शांति और समृद्धि की आधारशिला के रूप में जो परमार्थ

मानव जाति की अंतरात्मा बना चला आ रहा है, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर डालना, स्वार्थी बनकर जीना, निश्चय ही सबसे बड़ी मूर्खता है। इस मूर्खता को अपनाकर हम सर्वतोमुखी आपत्तियों को ही आमंत्रण देते हैं और उलझनों के दल-दल में आप की तरह ही दिन-दिन गहरे घुसते चले जाते हैं।

अपनी राह पर एकाकी चलना कितना अखरता है? इस पर भी यदि मार्ग ऊबड़-खाबड़, लंबा, भयावना हो तो राहगीर के लिए आगे बढ़ना और भी कठिन हो जाता है। कदाचित ऐसे में राही को कुछ हमसफर साथी मिल जाएँ, तो उसकी वह यात्रा कितनी सरल और सुखद बन जाए, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। जीवन यात्रा का लंबा पथ जो अनेक उत्तार-चढ़ाव, परिवर्तन, अनुकूल, प्रतिकूल, सुखद-दुःखद परिस्थितियों से निर्मित होता है, इस पर एकाकी चल सकना जनसाधारण के लिए संभव नहीं होता। मनुष्य अकेला तो सुख भी नहीं मना सकता। सुख की अनुभूति का माध्यम उसे व्यक्त करने के लिए भी साथियों की आवश्यकता होती है। जीवन-पथ पर चलने के लिए अभिन्न संगी-साथी, सहयोगी की आवश्यकता मानव-जीवन का एक अनिवार्य पहलू है। विवाह का आधार तथा संसार के अन्य नाते-रिश्तों का मूल कारण भी यही है। मानव-जीवन विभिन्न क्षेत्रों में बँटा हुआ है। इन सभी में पूर्णता, सफलता प्राप्त करने के लिए उसे साथी-सहयोगी मित्रों की आवश्यकता पड़ती है। बिना मित्रों के सहयोग के जीवन के अधिकांश कार्यक्रम असफल ही रहते हैं। शिक्षा, व्यापार-पेशा, कला आदि की साधना, जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में मित्रों की आवश्यकता रहती है।

जीवन की कटु, दुःखद अनुभूतियों से मन में तरह-तरह के विचार, भाव एवं ग्रंथियाँ अपना अस्तित्व गुप्त मन में कायम कर लेते हैं और ये सब जहर की तरह प्रतिक्रिया पैदा कर मनुष्य को मन-ही-मन घुलाते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य यदि दिल

खोलकर अपनी व्यथा किसी को कह सके, छिपे भावों को व्यक्त कर सके, तो सहज ही उसका मन हलका और स्वस्थ हो जाए, साथ ही अपने साथी से प्रेरणा-प्रोत्साहन पाकर मनुष्य फिर से आशा के साथ जीवन पथ पर गतिशील हो जाए।

एकाकीपन के कष्ट से बचने के लिए, जीवन व्यापार में सहयोग देने के लिए, दुःख में अभिन्न साथ के लिए मनुष्य को मित्रों, दोस्तों, साथियों की आवश्यकता होती है। कोई भी व्यक्ति अपने आप में पूर्ण नहीं होता अतः अनेक व्यक्तियों से संपर्क बनाकर मनुष्य पूर्ण बनने का प्रयत्न करता है। मनुष्य को जीवन में अभिन्न और योग्य मित्र मिल जाना एक दैवी वरदान है, संसार की सबसे बड़ी संपत्ति है और जीवन की सफलता का महत्वपूर्ण आधार है। सचमुच वे लोग भाग्यशाली हैं, जिन्हें अभिन्न मित्र मिल जाते हैं।

एक मनुष्य के पास पर्याप्त साधन, संपत्ति, जीवन निर्वाह की वस्तुएँ हैं, फिर भी वह उद्घार्न, अशांत, परेशान-सा देखा जाता है। दूसरा उच्च शिक्षा संपन्न, अच्छे पद पर प्रतिष्ठित होकर भी भूला-भटका-सा दिखाई देता है। व्यापारी, विद्वान्, नेता, पंडित, उच्च पद पर आसीन लोग, इसी एक प्रश्न के समाधान के लिए परेशान मालूम पड़ते हैं। अधिकांश लोगों की एक ही शिकायत है—संघर्ष, अशांति, कलेश, परेशानी। नीचे से लेकर ऊपर तक अधिकांश व्यक्ति इसी प्रश्न के पीछे परेशान हैं और तरह-तरह के प्रयत्न करते हैं, फिर भी इसका समाधान नहीं होता।

**वस्तुतः** जीवन के इस प्रश्न का समाधान बाहरी सफलताओं या संसार में नहीं है। इसका समाधान मनुष्य के अपने अंदर है, वह है, जीवन व्यवहार में हृदय को महत्व देना। हमारी बुद्धि बढ़ी है, किंतु हमारा हृदय अभी तक जड़ ही बना हुआ है। बुद्धि के बल पर व्यापार, शिक्षा, पांडित्य, विद्वता, उच्च पद एवं जीवन की अन्य सभी तरह की सफलताएँ मिल जाती हैं, किंतु हृदय की व्यापकता,

विशालता के अभाव में ये सफलताओं के बड़े-बड़े महल उसी तरह डरावने और अटपटे लगते हैं, जैसे सुनसान, अंधेरे भवन और किले। हृदय की जीवनशक्ति के अभाव में मनुष्य की समस्त समृद्धि, विद्वता, बड़प्पन, उच्च पद के भयावने भूत उसे ही खाने लगते हैं।

एक समय महात्मा बुद्ध को भी इसी भूत का सामना करना पड़ा था। वे राजपुत्र थे, अतुल संपत्ति थी। सुंदर और भव्य भवन थे, मन बहलाने के बड़े-बड़े साधन थे और सभी कुछ थे, किंतु बुद्ध को ये सब अटपटे लगे। आत्म प्रसाद, शांति, आनंद, समाधान, बुद्ध को इस समृद्धि और राज महलों में नहीं मिला। वे इन सब अलंकारों को छोड़कर नीचे उतरे, अपनी इन दीवारों को तोड़ बुद्ध व्यापक बने, जन-मन के साथ एकता प्राप्त की और वे फिर राजमहल के राजकुमार न रहकर असीम के साथ, मानवता के साथ एकाकार हुए, तभी उन्हें जीवन के उस प्रश्न का समाधान मिला।

भगवान राम ने इसी पथ का वरण किया। समृद्ध, सुसंपन्न अयोध्या नगरी को त्याग राम बल्कल वस्त्र धारणकर अनंत पथ के पथिक बने और जंगल में कृत्रिमता से दूर प्रकृति के फैले विशाल आँचल में पशु-पक्षी, वनस्पति, नदी, नाला, पहाड़ तक से अपने हृदय को जोड़ा। शबरी, गिर्द, केवट के हृदय-से-हृदय जोड़ने वाले दशरथ सुत राम जनमानस के राम बन गए।

महात्मा गाँधी ने उच्च शिक्षा का अभिमान छोड़ा, जनता-जनार्दन के समकक्ष उतरे, वैसा ही पहना, वैसा ही खाया। अपने जीवन को, अपनी विद्वता को निजी समृद्धि का आधार न बनाकर पीड़ित मानवता के कल्याण, उन्नति, प्रगति का आधार बनाया।

इसी तरह स्वामी रामकृष्ण, विवेकानंद, दयानंद, रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, मालवीय जी आदि ने अपनी समृद्धि, विद्वता, पांडित्य, उच्चपद आदि से नीचे उतर मानवता के हृदय से अपना हृदय जोड़ा, मानवता के कष्ट, दुःख, अपने कष्ट, दुःख समझे,

जनता-जनार्दन की पीड़ा अपनी पीड़ा समझी और उसके लिए अपने जीवन को लगाया। एक घोर लोकसंग्रही से भी अधिक श्रम किया, कष्ट झेले, परेशानी उठाई, पीड़ित, दुखी, क्लांत मानवता के लिए, जनता-जनार्दन के लिए।

समृद्धि, रूप, पांडित्य, विद्वता, पद आदि का अभिमान ही वह चहारदीवारी है, जो हमें जीवन के यथार्थ स्वरूप से दूर किए हुए हैं। अभिमान, अहंकार चाहे वह किसी भी गुण, रूप, वस्तु का क्यों न हो, मनुष्य के वास्तविक सुख और आत्म-प्रसाद से उसको दूर रखता है। जिसका दिल और दिमाग इस दंभ की घेरेबंदी में जकड़ा हुआ है, वह कैसे संतुष्ट रह सकता है?

जब धनवान अपने धन का, दानवृत्ति का अभिमान छोड़कर दरिद्रता के प्रति अपने हृदय को जोड़ लेगा, शिक्षा शास्त्री पंडित जब मानवता की पंक्ति में आकर बैठेंगे, उच्च पद संपन्न लोग जब जनता-जनार्दन की अर्चना में लगेंगे, तो उनका अहंभाव सहज ही तिरोहित हो जाएगा और उन्हें जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का समाधान मिल सकेगा। जीवन का सच्चा सुख, आत्मप्रसाद, आत्मशांति, संतोष, हृदय को मुक्त और असीम व्यापक बनाने से ही संभव है।

भर्तृहरि राजा थे। जब राज छोड़कर वे संत बने और जीवन के उक्त प्रश्न का समाधान पाया, तब उन्होंने कहा था—“न राजा बड़ा है, न तपस्वी, न विद्वान, साधारण व्यक्ति भी यदि अपने जीवन और कार्यों से संतुष्ट है, तो वही सबसे बड़ा है।”

स तु भवति दरिद्रो, यस्य तृष्णा विशाला।

मनसि च परितुष्टे, कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

“जिसकी तृष्णा अधिक है, वही दरिद्री है। जिसका चित्त संतुष्ट है, उसके सामने न कोई धनी है, न दरिद्री।”

मनुष्य अपने रूप, गुण, समृद्धि, कीर्ति आदि के बोझ को जिस क्षण हृदय से हटाकर मानवता के साथ पंक्ति में बैठ जाएगा,

जब अपने हृदय को असीम मानवता के साथ जोड़ लेगा, तभी जीवन की समस्त समस्याओं का समाधान सहज ही हो जाएगा।

मानव की आज यह स्थिति है कि दो व्यक्ति मिलकर भी एक साथ नहीं रह सकते। पड़ोसी, भाई-भाई, स्त्री-पुरुष, एक जगह काम करने वाले सभी में यह वृत्ति दिखाई देती है। व्यक्ति-व्यक्ति से लेकर यही बात समाज, प्रदेश, राष्ट्र, संस्था, वर्ण, जाति, धर्म सभी में व्याप्त है। धरती पर मिली हुई समृद्धि की सीमा में रहकर भी मनुष्य चाहे तो प्रसन्न और शांत रह सकता है किंतु स्थिति इस कदर हो गई है कि लोग अपने-अपने सामने परसी हुई थालियों में रखी हुई वस्तुएँ न खाकर आपस में लड़ने-झगड़ने लगते हैं। इससे सारी सामग्री तो नष्ट हो जाती है और कोई भी मनुष्य तृप्त और संतुष्ट नहीं हो पाता। मानव जाति में फैली हुई यही बीमारी समस्त लड़ाइयों, संघर्षों की जड़ है। इसी के कारण आज का मनुष्य परस्पर प्रेम और सहायता से स्वर्गीय जीवन बिताने के बजाए, एक-दूसरे के विनाश की तैयारी में लगा हुआ है।

मानव-मानव के बीच इस संघर्ष-लड़ाई का कारण गरीबी, अभाव आदि नहीं, वरन् तेरे-मेरे का प्रश्न है। अपने लाभ, अपनी समृद्धि, अपने की साज-सँभाल सभी को प्रिय लगती है किंतु दूसरे के साथ वह भाव नहीं, उसकी हानि, अपमान, मृत्यु तक में भी कोई दिलचस्पी नहीं। उलटा दूसरे से अपना जितना लाभ बन सके, इसके लिए सभी को प्रयत्नशील देखा जाता है।

इस व्यापक समस्या का भी एक ही समाधान है, वह यह है कि अपने हृदय को तेरे-मेरे के संकीर्ण घेरे से निकालकर 'समग्र' के साथ जोड़ा जाए। इसके व्यावहारिक मार्ग का प्रथम सूत्र है—सह अस्तित्व का मंत्र। स्वयं जीएँ, और दूसरों को जीने दें। अपनी-अपनी थाली में से सब बैठकर खाएँ। इसके बाद ही दूसरा सूत्र है—“दूसरे के जीने के लिए मुझे सहयोग करना होगा।” इसकी पराकाष्ठा अपने आपको मिटा देने तक रहती है। दूसरों को जीने के

लिए अपने आपको मिटाने की भावना एक-दूसरे के दिल और दिमाग को जोड़ती है—एकाकार करती है। यही व्यक्ति से लेकर विश्व-समस्या का मूल समाधान है।

टालस्टॉय ने कहा था—“जिसके पास दो कोट हैं वह एक कोट उसे दे दे, जिसके पास एक भी नहीं है। जिसके पास भोजन है वह भी ऐसा ही करे।” टालस्टॉय ने आधुनिक व्यक्ति की समस्याओं को देखकर यही उपाय बताया कि मनुष्य अपनी समृद्धि के लिए ही नहीं, वरन् दूसरों को जीने में मदद करने का भरपूर प्रयास करे। उन्हें जीवन बिताने में सहयोग दे।

महात्मा गाँधी ने भी यही मंत्र मानव जाति को दिया। उन्होंने दक्षिण में यात्रा करते हुए, उस ग्रामीण महिला को देखा जो एक आधी-सी फटी हुई गीली धोती पहने खड़ी थी। गाँधी जी ने पूछा—“तुम इसे सुखा क्यों नहीं लेतीं।” उसने कहा—“क्या करूँ, मेरे पास यही धोती है जो नहाने के उपरांत मेरे ही शरीर पर सूखती है।” बापू की आँखों में पानी भर आया, उन्होंने तत्काल अपनी चद्दर उतारकर दे दी और उसी दिन से प्रतिज्ञा की—“जब तक मानव को तन ढकने को वस्त्र नहीं मिलेंगे, मैं भी पूर्ण वस्त्र धारण नहीं करूँगा।” और वे आजीवन एक छोटी-सी धोती और एक चद्दर से काम चलाते रहे। यही परिधान था, उनका बड़े-बड़े बादशाहों से मिलते समय भी।

हम भी अपने हृदय को दूसरों के लिए इसी तरह संवेदनशील बनाकर अपनी और विश्व की समस्याओं के समाधान में योग दे सकते हैं। जब परिवार में हम अपने लिए अच्छी माँग न रखकर दूसरों का ध्यान रखेंगे, तो क्यों नहीं हमारा परिवार स्वर्गीय बनेगा? इसी तरह पड़ोस, देश, समाज, जाति की यही आवश्यकता है, जिसे अनुभव किए बिना मानव और विश्व की समस्या का समाधान न हो सकेगा।

## सामाजिक प्रगति का एकमात्र आधार

स्वार्थपरता की मात्रा जब मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगती है तब मनुष्य किसी भी मार्ग से अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए तत्पर हो जाता है। उचित-अनुचित का विचार छोड़कर जैसे भी बने वैसे अपना स्वार्थ सिद्ध करने की नीति जब अपनाई जाने लगती है, तो मनुष्य का व्यक्तित्व असुरता से परिपूर्ण हो जाता है। असुरता की जहाँ वृद्धि होगी, वहाँ सुख-शांति का ठहर सकना संभव न होगा। अनैतिक दृष्टिकोण अपनाए हुए व्यक्तियों का समाज असभ्य ही कहला सकता है। वहाँ निरंतर कलेश-कलह ही नहीं सर्वनाश के अवसर भी उपस्थित होते रहते हैं। आज हमारे समाज में अपराधों, कलेशों, संघर्षों, अभावों, चिंताओं और समस्याओं का घटाटोप दिखाई पड़ता है, उसका एकमात्र कारण व्यक्तियों के मन में बढ़ी हुई स्वार्थपरता, चरित्रहीनता एवं संकुचित दृष्टि ही है। आदर्शवाद का, धर्म-नीति एवं मर्यादा का उल्लंघन जब कभी भी अधिक मात्रा में होने लगता है, तब उसका दुष्परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ता है।

स्वार्थ से मनुष्य कैसा निर्माही हो जाता है, इसके अगणित उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। स्वजन-संबंधियों के रिश्ते भी स्वार्थपरता के तूफान में नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। औरंगजेब अपने सगे भाई दारा को अपने मार्ग का काँटा समझता था और उसका सिर काटकर अपने बाप के आगे पेश किया। सगे भाई के प्राण लेने और बाप को अपने प्राण प्यारे बेटे का कटा हुआ सिर दिखाकर मृत्यु से अधिक यंत्रणा सहने को विवश कराने वाली यह डाकिन स्वार्थपरता ही तो है। बालि ने अपने सगे भाई सुग्रीव की स्त्री का अपहरण कर लिया। रावण ने विभीषण को भरी सभा में सदुपदेश देने के कारण लात मारकर तिरस्कृत किया। कौरवों ने पांडवों को क्या-क्या दुःख नहीं दिए। एक ओर राम-लक्ष्मण और भरत का आदर्श प्रेम है, दूसरी ओर औरंगजेब, बालि-रावण और कौरवों के कुकृत्य हैं। इस

अंतर को प्रस्तुत करने का कारण धर्म और अधर्म की आस्था-अनास्था ही हो सकती है।

बाप-बेटे का कितना पवित्र संबंध है। पिता की आज्ञा पालन करने के लिए जहाँ राम, श्रवणकुमार, भीष्म, पुरु आदि ने अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किए, वहाँ ऐसी भी परंपरा मौजूद हैं जिनमें बेटे ने बाप को तिरस्कृत, पददलित और मौत के मुँह में धकेल देने में कसर न रखी। जहाँगीर ने अकबर को कैद किया था। खुसरो ने जहाँगीर के खिलाफ बगावत की। औरंगजेब शाहजहाँ को कैद कर उसकी गद्दी पर आप बैठ गया और सलीम ने औरंगजेब के साथ वही व्यवहार किया। बेटों की बापों के प्रति की गई यह करतूतें किस समाज के लिए गौरवास्पद हो सकती हैं?

कंस ने अपनी बहिन देवकी के आठ बच्चों को पत्थर पर पटक-पटककर मार डाला। गुरुभक्ति के स्थान पर उनके साथ अमानवीय व्यवहार करने वाले शिष्यों की भी कमी नहीं रही है। भस्मासुर अपने गुरु शिवजी पर उनके दिए हुए वरदान का उलटा प्रयोग करने एवं उन्हें भस्म करके पार्वती का अपहरण करने को उतारू हो गया। गुरु गोविंदसिंह की हत्या उनके एक शिष्य ने ही कर दी। दयानंद को उनके प्रिय सेवक जगन्नाथ ने ही विष खिला दिया। ईसा मसीह को उनके एक शिष्य ने ही तीस रूपए के लोभ में गिरफ्तार करके फाँसी पर चढ़वा दिया। जहाँ गुरुभक्ति के एक-से-एक ऊँचे उदाहरण मौजूद हैं वहाँ ऐसी निकृष्ट घटनाएँ भी कम नहीं हैं। अपने स्वामी की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा त्याग करने वाले संयमराय एवं पन्ना धाय आदि जैसे उदाहरण मौजूद हैं, वहाँ सिराजुद्दौला से विश्वासघात करके उसके राज्य और जीवन को नष्ट करा देने वाले मीर जाफर जैसे नौकरों के कुकृत्य भी देखने को मिलते रहते हैं।

‘पतिव्रत’ भारतीय नारी की विशेषता रही है, पर सूर्पनखा जैसी भी नारियाँ हुई हैं, जो अपने विवाहित पति को छोड़कर, परपुरुषों की कल्पना से स्वच्छंद विचरण करती रहीं और समाज में भयंकर कांडों का निमित्त बनीं। एक नारी व्रत का उल्लंघन जिन्होंने किया उन्होंने विपत्ति को ही आमंत्रण किया है। उत्तानपाद ने एक स्त्री के रहते दूसरी से विवाह किया। उस ईर्ष्या से पहली रानी के पुत्र ध्रुव का अपमान हुआ और बच्चे को घर ही छोड़ देना पड़ा। दशरथ ने तीन विवाह करके कौन शांति पाई? पांडु ने कुंती के रहते हुए, माद्री से विवाह कर लिया, तो उन्हें क्षयग्रस्त होकर अकाल मृत्यु के मुख में जाना पड़ा। रावण ने सीता का अपहरण करके पराई स्त्री घर में रखनी चाही। कीचक ने द्रोपदी पर कुदृष्टि डाली, अलाउददीन चित्तौड़ की रानी पदमावती पर ललचाया। इन सबका क्या परिणाम हुआ? यह किसी से छिपा नहीं है। कुमार्ग पर जिसने भी कदम बढ़ाया है उसने अपने लिए ही नहीं, वरन् दूसरों के लिए भी संकट उत्पन्न किया है।

रावण, कंस, जरासंध, हिरण्यकश्यप, बेन, नहुष, दुर्योधन, औरंगजेब, नादिरशाह आदि नृशंस शासकों ने अपने मुँह पर कालिख पोता और अन्य अगणित लोगों को उत्पीड़न एवं यंत्रणा में रहने के लिए विवश किया। मुहम्मद गौरी अपनी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के लिए क्या-क्या नहीं करता रहा? क्या नेपोलियन और सिकंदर ने असंख्यों निरपराधों के खून से धरती नहीं रंगी। कुमार्ग पर चलने वाले व्यक्ति सारे समाज को ही दुःख देते हैं। जयचंद ने देशद्रोह करके मुहम्मद गौरी को भारत पर आक्रमण करने के लिए बुलाया, तो उस कुकृत्य का दुष्परिणाम राष्ट्र को अद्यावधि सहना पड़ रहा है। दूसरी ओर एक व्यक्ति की देश भक्ति के कारण इंगलैंड के मालामाल और समुन्नत हो जाने का भी उदाहरण मौजूद है। शाहजहाँ की पुत्री जहानआरा का इलाज एक अंगरेज डॉक्टर ने किया था। उससे जब बादशाह ने पूछा कि आपने मेरी बेटी की जान बचाई है,

आपको क्या पुरस्कार दूँ? तो उसने अपने लिए कुछ न माँगते हुए इतना ही कहा कि मेरे देश से आने वाले माल पर से चुंगी माफ कर दीजिए। शाहजहाँ ने उसे स्वीकार कर लिया और भारत के बाजार इंगलैंड के माल से पट गए। उस लाभ से इंगलैंड जैसा पिछड़ा हुआ देश संसार का अग्रणी बन गया।

यदि दुर्बुद्धि किन्हीं श्रेष्ठ व्यक्तियों को अपने चंगुल में फँसा ले तो उन्हें भी पतन के गर्त में धकेल सकती है। विश्वामित्र ऋषि को प्रलोभन आया, तो वे मेनका के जाल में फँस गए। पाराशर केवट कन्या पर मोहित हो गए और अपने को सँभाले न रह सके। चंद्रमा ने गुरु-पत्नी गमन का पाप कमाया और इंद्र जैसे देवता अहिल्या का सतीत्व नष्ट करने के कुकर्म में प्रवृत्त हुए। भीष्म और द्रोणाचार्य जैसे विवेकशील, दुर्योधन की अनीति का समर्थन करने लगे। इससे प्रतीत होता है कि कोई व्यक्ति अच्छा या बुरा तभी तक रह सकता है, जब तक कि उसकी धर्मबुद्धि सावधान रहे। पाप-बुद्धि के प्रकोप से यदि मनुष्य सँभल न सके, तो वह स्वयं तो अंधकार के गर्त में गिरता ही है और दूसरे अनेक को अपने साथ पाप पंक में ले डूबता है।

धर्मबुद्धि के जाग्रत होने पर फतेसिंह, जोरावर जैसे छोटे-छोटे बालक दीवार में जीवित चिने जाना हँसी-खुशी स्वीकार कर सकते हैं। छोटी न कटने देने के बदले बोटी-बोटी कटवाने को प्रसन्नतापूर्वक तैयार होते हैं। स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक बनकर असंख्यों व्यक्ति सब प्रकार की बरबादी सहन करते हैं और फाँसी के तख्तों पर गीता की पुस्तकें छाती से चिपकाए हुए चढ़ते चले जाते हैं। राम की सेना में रीछ-बंदर जैसे दुर्बल प्राणी अपने प्राणों की आहुति देने के लिए सम्मिलित होते हैं। एक छोटी गिलहरी तक अपने बालों में धूल भर-भरकर उसे समुद्र में झाड़ देने का अनवरत श्रम करके समुद्र को उथला करके राम की सेना का मार्ग प्रशस्त करती है। धर्मबुद्धि से दुर्बल व्यक्तियों में भी हजार हाथी का बल आ जाता है,

पर स्वार्थी बुद्धि तो सेनापतियों को भी कायर बना देती है। द्रौपदी को भरी सभा में नग्न किए जाते समय भीष्म और द्रोण जैसे योद्धा न पुंसक बने बैठे रहे। उनके मुख से एक शब्द भी विरोध का न निकला। थोड़े-से मुट्ठीभर विदेशी आक्रमणकारी भारत में आए थे, पर उनका संगठित मुकाबला करने के लिए यहाँ के शासक तैयार न हुए और पददलित होते चले गए। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई सहायता और आश्रय प्राप्त करने के लिए समर्थ राजाओं के पास जाती है, पर अंगरेजों के डर से वे उसे साफ इंकार कर देते हैं। कितने ही भारतीय अंगरेजों और मुसलमानों के नाक के बाल बने रहे और देश को गुलामी की जंजीरों से देर तक जकड़े रहने में अपनी स्वार्थ बुद्धि के कारण करने और न करने योग्य सब कुछ करते रहे। जहाँ राणा प्रताप और शिवाजी जैसे स्वाभिमानी जीवनभर भारतीय स्वतंत्रता के लिए तिल-तिल लड़ते रहे, वहाँ खुशी-खुशी अपनी बहन-बेटियाँ देकर अपने लिए सुविधाएँ प्राप्त करने वाले भी कम न थे। राणा सांगा ८४ घाव होने पर भी युद्धरत रहे, पर दूसरे लोग शत्रु से मिलकर अपना स्वार्थ साधने में ही लगे रहे थे।

मनुष्य हाड़-मांस का पुतला एक तुच्छ प्राणिमात्र है, उसमें न कुछ विशेषता है, न न्यूनता। उच्च भावनाओं के आधार पर वह देवता बन जाता है, तुच्छ विचारों के कारण वह पशु दिखाई पड़ता और निकृष्ट, पाप-बुद्धि को अपनाकर वह असुर एवं पिशाच बन जाता है। इस लोक में जो कुछ सुख-शांति, समृद्धि और प्रगति दिखाई पड़ती है, वह सब सद्भावनाओं और सत्प्रवृत्तियों का परिचय है। जितनी भी उलझनें, पीड़ाएँ और कठिनाइयाँ दीखती हैं उनके मूल में कुबुद्धि का विष बीज ही फ़लता-फूलता रहता है। सैकड़ों-हजारों वर्ष बीत जाने पर भी पुरानी ऐतिहासिक इमारतें लोहे की चट्टान की तरह आज भी अडिग खड़ी हैं, पर हमारे बनाए हुए बाँध, स्कूल, पुल इधर बनकर तैयार नहीं हो पाते, उधर बिखरने शुरू हो जाते हैं। सामान और ज्ञान दोनों ही आज पहले की अपेक्षा

अधिक उच्चकोटि के उपलब्ध हैं, पर उस लगन की कमी ही दिखाई पड़ती है, जिसके कारण प्राचीन काल में लोग स्वल्प साधन होते हुए भी बड़ी-बड़ी मजबूत चीजें बनाकर खड़ी कर देते थे। कुतुबमीनार, ताजमहल, आबू के जैन मंदिर, मदुरा के मीनाक्षी के देवालय, अजंता की गुफाएँ, मिश्र के पिरामिड और चीन की दीवार समय के बौद्धिक ज्ञान का नहीं, उत्कृष्ट वास्तु निर्माण करने की भावना का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

मशीनों, कारखानों, नहर, बाँध और सड़कों के आधार पर हमारी सुख-शांति नहीं बढ़ सकती। इनसे थोड़ी आमदनी बढ़ सकती है, पर उस बढ़ी आमदनी से अनर्थ ही बढ़ने वाला है। देखा जाता है कि कारखानों के मजदूर और दूसरे श्रमिक ४० फीसदी तक पैसा शराब, तंबाकू, सिनेमा आदि में खरच कर डालते हैं। आमदनी बढ़ती चलने पर तरह-तरह की फिजूलखरची के साधन बढ़ते जाते हैं। जिन्हें ऊँची तनख्बाहें मिलती हैं वे भी अभाव और कमी का रोना रोते रहते हैं। धनी लोगों के व्यक्तिगत एवं पारिवारिक सामाजिक जीवन में क्लेश और द्वेष भरा रहता है। पैसे के साथ-साथ दुर्गुण बढ़ते चलने पर वह दौलत और उलटी विपत्ति का कारण बनती चलती है। इसलिए आर्थिक उन्नति के साथ-साथ विवेकशीलता और सत्प्रवृत्तियों की अभिवृद्धि भी अवश्य रहनी चाहिए। यदि इस दिशा में उपेक्षा बरती गई, तो प्रगति के लिए आर्थिक सुविधा बढ़ाने के जो प्रयत्न किए जा रहे हैं, वे हमारी समस्याओं को सुलझा सकने में कदापि समर्थ न हो सकेंगे।

जब तक मजदूर ईमानदारी से काम न करेंगे, कोई कारखाना पनप न सकेगा। जब तक चीजें अच्छी और मजबूत न बनेंगी, उससे किसी खरीदने वाले को लाभ न मिलेगा। जब तक विक्रेता और व्यापारी मिलावट, कम तोल-नाप, मुनाफाखोरी न छोड़ेंगे तब तक व्यापार की स्थिति दयनीय ही बनी रहेगी। सरकारी कर्मचारी जब तक अहंकार, रिश्वत, कामचोरी और घोटाला करने की प्रवृत्ति

न छोड़ेंगे तब तक शासन-तंत्र का उद्देश्य पूरा न होगा। यह सत्प्रवृत्तियाँ इन वर्गों में अभी उतनी नहीं दिखाई देती, जितनी होनी चाहिए। यही कारण है कि हमारी प्रगति अवरुद्ध बनी पड़ी है। साधनों को कमी नहीं है, आज जितना ज्ञान, धन और श्रम साधन अपने पास मौजूद है, उसका सदुपयोग होने लगे, तो सुख-सुविधाओं की अनेक गुनी अभिवृद्धि हो सकती है।

आत्म-कल्याण की लक्ष्य पूर्ति तो सर्वथा सत्प्रवृत्तियों पर ही निर्भर है। ईश्वर का साक्षात्कार, स्वर्ग एवं मुक्ति को प्राप्त कर सकना केवल उन्हीं के लिए संभव है जिनके विचार और कार्य उच्चकोटि के, आदर्शवादी एवं परमार्थ भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। कुकर्मी और पाप वृत्तियों में डूबे हुए लोग चाहे कितना ही धार्मिक कर्मकांड क्यों न करते रहें, कितना भजन-पूजन कर लें, उन्हें ईश्वर के दरवार में प्रवेश न मिल सकेगा। भगवान घट-घटवासी हैं, वे भावनाओं को परखते हैं और हमारी प्रवृत्तियों को भली प्रकार जानते हैं, उन्हें किसी बाह्य उपचार से बहकाया नहीं जा सकता। वे किसी पर तभी कृपा करते हैं जब भावना की उत्कृष्टता को परख लेते हैं। उन्हें भजन से अधिक 'भाव' प्यारा है। भावनाशील व्यक्ति बिना भजन के भी ईश्वर को प्राप्त कर सकता है, पर भावनाहीन व्यक्ति के लिए केवल भजन के बल पर लक्ष्य प्राप्ति संभव नहीं हो सकती।

लौकिक और पारलौकिक, भौतिक और आत्मिक कल्याण के लिए उत्कृष्ट भावनाओं की अभिवृद्धि नितांत आवश्यक है। प्राचीन काल में जब भी अनर्थ के अवसर आए हैं, तब उनका कारण मनुष्यों की स्वार्थपरता एवं पापबुद्धि ही रही है और जब भी सुख-शांति का आनंदमय वातावरण रहा है तब उसके पीछे सद्भावनाओं का बाहुल्य ही मूल कारण रहा है। आज भी हमारे लिए वही मार्ग शेष है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग न पहले था और न आगे रहेगा। सभ्य समाज की स्थिति जब-जब रही है तब

धर्मबुद्धि की ही प्रधानता रही है। हमें वर्तमान दुर्दशा से ऊँचे उठने के लिए जन-मानस में गहराई तक धर्मबुद्धि की स्थापना करनी होगी। इसी आधार पर विश्वव्यापी सुख-शांति का वातावरण बन सकना संभव होगा। व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की संकीर्णता छोड़कर सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने का दृष्टिकोण जब तक अपनाया न जाएगा, तब तक न तो व्यक्ति की उन्नति हो सकेगी और न समाज ही ऊँचा उठ सकेगा।

### मिल-जुलकर आगे बढ़िए

मनुष्य ने अन्य प्राणियों की तुलना में बहुत अधिक उन्नति की है। इस प्रगति में उसकी बौद्धिक विशेषता प्रधान कारण है। इसके बाद यदि कोई दूसरा उसके विकास में प्रमुख कारण रहा है, तो वह है उसकी सामूहिकता एवं सहकारिता की प्रवृत्ति। साथ-साथ रहने से, मिल-जुलकर काम करने से ही सामाजिकता का, सभ्यता का, संस्कृति का विकास हुआ है।

अन्य प्राणी शारीरिक दृष्टि से मनुष्य की तुलना में काफी बढ़े-चढ़े हैं। कई में चतुरता भी पर्याप्त मात्रा में है, पर वे परस्पर सहयोग करने की वृत्ति से रहित होने के कारण न तो उन्नति ही कर सके और न अपने अस्तित्व को ही सुरक्षित रख सके। सिंह जो किसी जमाने में भारी संख्या में सर्वत्र पाया जाता था, शक्ति की दृष्टि से वह सर्वोपरि कहलाता था, अब धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोता चला जा रहा है। जिस तेजी से उसकी संख्या घट रही है उसे देखते हुए पशु-विद्या के ज्ञाता यह संभावना मानने लगे हैं कि कहीं सौ, दो-सौ वर्षों के अंदर ही सिंह का अस्तित्व इस पृथ्वी पर से पूर्णतया समाप्त न हो जाए। जिन जीवों में परस्पर सहयोग की न सही साथ-साथ झुंड बनाकर रहने की प्रवृत्ति पाई जाती है वे इस कठिन समय में भी कम-से-कम अपने अस्तित्व की रक्षा किए हुए हैं। बंदर मनुष्य को बहुत सताता है, वह उसकी आँखों में खटकता है, फिर भी परस्पर सहकारिता के बल पर वह घुड़की

देने की अब भी हिम्मत करता है। कुत्ते परस्पर लड़ते हैं इसलिए उनका नाम ही तिरस्कार सूचक बन गया। बंदर अब भी पुजते हैं और देवता कहलाते हैं।

जीव-जगत में संगठन की शक्ति को हम आसानी से देख सकते हैं। चीटियों का झुंड जब चिपट जाता है, तो बड़े साँप को भी जीवित खा जाता है। टिड्डियों का दल, मनुष्य की रखवाली को व्यर्थ बनाता हुआ सारी फसल को चट कर जाता है। हाथियों और बंदरों के झुंड निर्भयतापूर्वक जिधर चाहते हैं, उधर बढ़ते जाते हैं, उनमें से प्रत्येक को यह विश्वास होता है कि कठिन समय आने पर साथियों का सहयोग सहज ही उपलब्ध हो जाएगा। झुंड बाँधकर चरने वाली गाएँ आक्रमणकारी बाघ की दाल नहीं गलने देतीं।

सूत के एक धागे को कोई बच्चा भी आसानी से तोड़ सकता है, पर जब वे सौ-पचास की संख्या में इकट्ठे होकर रस्सी बन जाते हैं, तो बड़े पहलवान के लिए भी उसे तोड़ना कठिन होता है। एक सींक का कोई मूल्य नहीं, उससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, पर जब कितनी ही सींकें मिलकर एक बुहारी बन जाती हैं, तो उससे घरों की सफाई बड़े सुचारू रूप में होती रहती है। छोटी-छोटी पानी की बूँदें जब तक अलग हैं तब तक उन्हें जमीन सोख लेती है, हवा सुखा देती है, लेकिन जब वे इकट्ठा हो जाती हैं, तो नदी, तालाब, समुद्र के रूप में अपनी प्रचंड शक्ति का परिचय देती हैं। जो जमीन अलग-अलग बूँदों को क्षणभर में सोख लेती थी, वही अब तालाब के तल में या किनारे पर पतली कीचड़ के रूप में परास्त पड़ी दिखाई पड़ती है। एक सिपाही कुछ नहीं कर सकता, पर जब उसका पूरा दल सेना के रूप में कहीं चढ़ाई करता है, तो सामने वालों के छक्के छूट जाते हैं।

कुछ डाकू एक गिरोह बनाकर जब सक्रिय होते हैं, तो बड़े प्रदेश की लाखों जनता को आतंकित कर देते हैं। थोड़े से संगठित

षड्यंत्रकारी बड़ी-से-बड़ी सुव्यवस्था को खतरे में डाल देते हैं। थोड़े से गुंडे-बदमाशों की चांडाल-चौकड़ी से भले आदमी डरते और बचते रहते हैं। इस प्रभाव में उन व्यक्तियों का मूल्य नहीं, उनकी सामूहिकता ही प्रधान है। ये डाकू, गुंडे, बदमाश, षड्यंत्रकारी, शारीरिक और मानसिक दृष्टि से वैसे ही होते हैं जैसे अन्य साधारण नागरिक, उनमें डराने जैसी कोई बहुत बड़ी विशेषता नहीं होती। वे अकेले हों तो उनकी मरम्मत आसानी से हो सकती है, पर चूँकि उनका एक गिरोह होता है, यह गिरोहबंदी ही खतरे का, डराने का प्रधान अस्त्र है। देशों और जातियों का इतिहास भी इसी प्रकार का है। इतिहास साक्षी है कि जो लोग संगठित थे वे उन्नति के मार्ग पर बढ़ते गए और जो असंगठित थे, फूट में ग्रस्त थे, उन्हें अवनति एवं पराजय का मुख देखना पड़ा।

भारत किसी समय बड़ा गौरवशाली, शक्ति-संपन्न एवं उन्नति के शिखर पर पहुँचा हुआ देश था तब यहाँ के लोग संगठन का महत्व समझते थे, एक-दूसरे के दुःख-सुख में साथी ही न थे, वरन् परस्पर सहायता करके एक-दूसरे को आगे बढ़ाने में सुख-संतोष अनुभव करते थे। संसार की सारी प्रगति और समृद्धि संगठन के आधार पर अवलंबित है, इस गुरु मंत्र को यहाँ का हर नागरिक जानता था और उसी आदर्श के अनुरूप अपनी सारी योजनाएँ बनाता था। यह प्रवृत्ति जहाँ बढ़ती है, वहाँ स्वर्गीय सुख-शांति का स्वयं ही अवतरण होता है, जैसा कि पूर्वकाल में इस देश में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता था। धीरे-धीरे जब इस मनोवृत्ति का हास हुआ, लोग व्यक्तिगत लाभ को, स्वार्थपरता को महत्व देने लगे, तो परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, शोषण, अपहरण, लूट-खसोट, छल, कपट, फूट-फिसाद का बढ़ना भी स्वाभाविक था, यह विष बीज, जहाँ बोए गए होंगे, वहाँ सत्यानाश के फल ही उगेंगे। असंगठित, फूट-फिसाद में, आपापूती और ईर्ष्या-द्वेष के दल-दल में जब हम फँस गए, तो मुट्ठीभर विदेशी आक्रमणकारी चढ़-दौड़े

और इतने विशाल देश पर जादू की तरह कब्जा कर लिया। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। असंगठित समाजों में सदा से यही दुर्गति होती आई है।

ऋषियों के बोध-सूत्र हमें सदा से सजग करते रहे हैं—

“संगच्छध्वं संवदध्वं, संवोमनासि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥”

—ऋग्वेद १०/१५/१२

“हे मनुष्यो ! साथ-साथ मिलकर चलो। मिलकर बोलो, तुम्हारी मानसिक भावनाएँ समान हों। जैसे पहले देवता लोग मिल-जुलकर विचार और कार्य करते थे, वैसे ही तुम भी करो।”

जब तक इन अमृत ऋचाओं का हम महत्व समझते रहे, उनका आचरण करते रहे, तब तक हम देव समाज की तरह गर्वोन्नत मस्तक से विश्व का नेतृत्व करते रहे। जब इस महाशक्ति का महत्व भूले, उसकी उपेक्षा की तो मणिहीन सर्प के समान निस्तेज और पददलित हो गए। व्यक्तिगत उन्नति, शक्ति और समृद्धि का कोई विशेष मूल्य नहीं है, वह बालू के किले की तरह एक धक्के में ढह सकती है, कोई एक आदमी अमीर या पहलवान होकर अपने व्यक्तिगत शौक-मौज में थोड़ी-सी वृद्धि कर सकता है, पर जातीय जीवन की प्रतिष्ठा तभी बढ़ेगी, जब सारा समाज संगठित हो। हमारी वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता इस संगठन के बल पर ही प्राप्त हुई है।

इस तथ्य को हमारे धर्म-इतिहास ग्रंथों में पग-पग पर उपस्थित किया गया है। रावण के अत्याचारों से परेशान ऋषियों ने अपना-अपना खून निकालकर एक घड़े में एकत्रित किया, उसके द्वारा सीता उत्पन्न हुई, जो असुर विनाश का प्रधान कारण बनी। देवता लोग जब असुरों से हारने लगे, तब प्रजापति ने उनकी थोड़ी-थोड़ी शक्ति को एकत्रित करके एक सामूहिक शक्ति ‘दुर्गा’ बनाई, वह दुर्गा ही हाथ में खप्पर और तलवार लेकर असुरों का मान-मर्दन

करने में सफल हो सकी। भगवान राम ने लंका पर चढ़ाई की, इतनी बड़ी शक्ति को परास्त किया, उस विजय में रीछ, वानरों के सहयोग को राम ने श्रेय प्रदान किया है। गोवर्धन पहाड़ उठाया गया, पर कृष्ण के साथ गोप भी अपनी लाठी उस पहाड़ के नीचे लगाए हुए थे। अश्वमेध के माध्यम से असंगठित हो जाने वाले राजाओं को एकछत्र शासन के अंतर्गत पुनः संगठित किया जाता था। कुंभ आदि पर्वों के माध्यम से सारे देश के साधु-ब्राह्मण व्यापक समस्याओं पर विचार करने और आगामी कार्यक्रम बनाने के लिए एकत्रित होते थे। धर्म-प्रचार के लिए वे बिखर जाते थे, पर फिर तीन-तीन वर्ष बाद हरिद्वार, वृद्धावन, प्रयाग और उज्जैन के कुंभ पर्वों पर एकत्रित होकर अपने संगठन-सूत्र को पुनः पुनः सजीव करते रहते थे। वे जानते थे कि अलग-अलग खिचड़ी पकाने से न धर्म-जागृति रह सकती है और न लोक में सुख-शांति कायम रह सकती है। इसलिए न केवल जन-साधारण को ही संगठित करना है, वरन् हम साधु, ब्राह्मणों को भी एक सूत्र में पिरोई हुई माला की तरह संघबद्ध रहना है।

भगवान बुद्ध के तीन प्रधान उपदेशों—धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि में धर्म और विवेक की शरण में जाने के समान ही संगठित होने की महत्ता का भी प्रतिपादन किया है। वह संघ बल ही था जिसने सारे एशिया में उस साधनहीन युग में भी बौद्ध धर्म का झँडा गाढ़ दिया। ईसाइयों के संगठित प्रयत्नों का ही फल है कि दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या को पिछले दो हजार वर्षों में ईसाई बना लिया गया। शास्त्र ने इस युग का सर्वोपरि माध्यम संगठन को ही घोषित करते हुए कहा है—‘संघे शक्तिः कलौ युगे’। यह वोट का युग है। वोट की चोट से वह राज-सत्ता हथिया ली जाती है, जो शास्त्रों के प्रचंड संघर्ष से भी प्राप्त होनी संभव नहीं। राजनैतिक पार्टियाँ, सत्ता हथियाने के लिए वोट का क्या मूल्य है, यह भली प्रकार जानती हैं। राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय,

सामाजिक, आर्थिक, सभी क्षेत्रों में आज संगठन की तूती बोलती है। जिसकी पीठ पर संघ-बल है, उसके पीछे अन्य बल उसी प्रकार फिरते हैं, जैसे सूर्य के आस-पास नवग्रह परिक्रमा लगाया करते हैं।

हम आपस में मिल-जुलकर बैठना सीखें, विचार-विनिमय की आदत डालें, अपने अतीत और भविष्य का चिंतन करते हुए वर्तमान का आधार नियोग करें, परस्पर प्रेम, एकता और संगठन के महत्व को स्वीकार करें, एक-दूसरे की उन्नति में सहायक बनकर सर्वांगीण उन्नति के पथ पर तेजी से अग्रसर हों और जो अविवेकपूर्ण कारण हमारी एकता में बाधक बने हुए हैं, उन्हें बीन-बीनकर फेंक दें, यही उचित है। यों संगठन बल सदा ही महत्वपूर्ण था, पर इस युग में तो वही सर्वोपरि शक्ति है, उस तथ्य को हम जितनी गहराई से हृदयंगम कर लें उतना ही उत्तम है।

हमारे हर कार्य में सामूहिकता की, समाज हित की दृष्टि प्रधान रहे, अपना स्वार्थ साधें, पर वह कहीं भी समाज हित का विरोधी न हो। अलग डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाना, अकेले बैठना, अकेले खाना, अकेले का लाभ सोचना अनात्मवाद है, असुरता है। यह वृत्ति हम भारतीय तत्त्वज्ञान के आदर्शों के मानने वालों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त एवं अशोभनीय है। मिल-जुलकर रहने, साथ-साथ काम करने, सबके हितों का एक केंद्र पर केंद्रीकरण करने से ही हमारा कल्याण है। आत्मा लघु है, अणु है, उसे परम आत्मा, परमात्मा, विभु बना देने में ही आत्मोन्नति का परम लक्ष्य सन्निहित है।

### सबके हित में अपना हित

सामाजिक न्याय का सिद्धांत ऐसा अकाट्य तथ्य है कि इसकी एक कदम के लिए भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक वर्ग के साथ अन्याय होगा, तो दूसरा वर्ग कभी भी शांतिपूर्ण जीवन-यापन न कर सकेगा। लोहे की छड़ को एक सिरे पर गरम किया जाए, तो

उसकी गरमी धीरे-धीरे दूसरे सिरे तक भी पहुँच जाएगी। सारी मनुष्य जाति एक लोहे के छड़ की तरह है, उसको किसी भी स्थान पर गरम या ठंडा किया जाए, तो दूसरे भागों पर भी उसका प्रभाव अनिवार्य रूप से पड़ेगा। सामाजिक न्याय सबको समान रूप से मिले, प्रत्येक मनुष्य मानवोचित अधिकारों का उपयोग दूसरों की भाँति ही कर सके, ऐसी स्थिति पैदा किए बिना हमारा समाज शोषण मुक्त नहीं हो सकता। आर्थिक समता की बात समाजवादी विचारधारा के द्वारा राजनीतिक स्तर पर बड़े जोरों से कही जा रही है। साम्यवादी देश उग्र रूप से और समाजवादी देश मंथर गति से इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं, अध्यात्मवाद की शिक्षा भी सनातन काल से यही रही है। यहाँ परिग्रह को सदा से पाप माना जाता रहा है। सामान्य जनता के स्तर से बहुत अधिक सुख-साधन प्राप्त करना या धन संपत्ति जमा करना यहाँ सदा से पाप कहा गया है और यही निर्देश किया गया है कि सौ हाथों से कमाओ भले ही, पर उसे हजार हाथों से दान अवश्य कर दो। अर्थात् अगणित बुराइयों को जन्म देने वाली संग्रह-वृत्ति को पनपने न दो।

कोई व्यक्ति अपने पास सामान्य लोगों की अपेक्षा अत्यधिक धन तभी संग्रह कर सकता है जब उसमें कंजूसी, खुदगरजी, अनुदारता और निष्ठुरता की भावना आवश्यकता से अधिक मात्रा में भरी हुई हो। जबकि दूसरे लोग भारी कठिनाइयों के बीच अत्यंत कुत्सित और अभावग्रस्त जीवन यापन कर रहे हों, उनके बच्चे शिक्षा और चिकित्सा तक से वंचित हो रहे हों, तब उनकी आवश्यकताओं की ओर से जो आँखें बंद किए रहेगा, किसी को कुछ भी न देना चाहेगा, देगा तो राई रत्ती को देकर पहाड़-सा यश लूटने का अवसर मिलेगा तो ही कुछ देगा, ऐसा व्यक्ति ही धनी बन सकता है। सामाजिक न्याय का तकाजा यह है कि हर व्यक्ति उत्पादन तो भरपूर करे, पर उस उपार्जन के लाभ में दूसरों को भी सम्मिलित रखे। सब लोग मिल-जुलकर खाएँ-जिएँ और जीने दें।

दुःख और सुख को सब लोग मिल-बाँटकर भोगें। यह दोनों ही भार यदि एक के कंधे पर आ पड़ते हैं, तो वह दबकर चकनाचूर हो जाता है, पर यदि सब लोग इन्हें आपस में मिलकर बाँट लेते हैं, तो किसी पर भार भी नहीं पड़ता, सबका चित्त हलका रहता है और समाज में विषमता का विष भी उत्पन्न नहीं हो पाता।

जिस प्रकार आर्थिक समता का सिद्धांत सनातन और शाश्वत है, उसी प्रकार सामाजिक समता का मानवीय अधिकारों की समता का आदर्श भी अपरिहार्य है। इसको चुनौती नहीं दे सकते। किसी जाति, वंश या कुल में जन्म लेने के कारण किसी मनुष्य के अधिकार कम नहीं हो सकते और न ऊँचे माने जा सकते हैं। छोटे या बड़े होने की, नीच या ऊँच होने की कसौटी गुण, कर्म, स्वभाव ही हो सकते हैं। अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण किसी का न्यूनाधिक मान हो सकता है, पर इसलिए कोई कदापि बड़ा या छोटा नहीं माना जा सकता कि उसने अमुक कुल में जन्म लिया है। इस प्रकार की अविवेकपूर्ण मान्यताएँ जहाँ भी चल रही हैं, वहाँ कुछ लोगों का अहंकार और कुछ लोगों का दैन्य-भाव ही कारण हो सकता है। अब उगती हुई दुनिया इस प्रकार के कूड़े-कवाड़े जैसे विचारों को तेजी से हटाती चली जा रही है। अफ्रीका और अमरीका में जहाँ गोरी, काली जातियों में नीच-ऊँच की भावना मौजूद है उनका विरोध विश्व का सारा लोकमत कर रहा है। विचारशील क्षेत्रों में इस भेद-भाव की भरपूर भर्त्सना की जा रही है और यह निश्चित है कि यह भेद-भाव चंद दिनों का मेहमान है। सामाजिक समता की मान्यता को ही सर्वत्र स्वीकार किया जाएगा। भारत में जातियाँ, नियत कामों और व्यवसायों को वंश-परंपरा के साथ अधिक दक्षता के साथ उन्नत करते चलने की दृष्टि से बनी थीं। उनके निर्माताओं ने कभी स्वप्न में भी यह न सोचा होगा कि एक दिन इन पुनीत परंपरा में नीच-ऊँच का विष भी मिल जाएगा, पर आज तो यही विडंबना चल रही है। गुण, कर्म, स्वभाव की

उपेक्षा करके लोग केवल वंश और जाति के आधार पर ऊँच या नीच होने की मान्यता माने बैठे हैं। इस निरर्थक मूढ़ता का अंत होना ही है। विवेक का उदय जैसे-जैसे होता जाएगा, यह अंधकार नष्ट होने ही वाला है। समय रहते हम अपनी समझदारी का परिचय देते हुए कुछ पहले ही छोड़ सकें, तो यह एक प्रशंसा की बात ही होगी।

स्त्रियों के बारे में पुरुषों ने जो ऐसी मान्यता बना रखी है कि वे उनकी गाय, भैंस जैसी संपत्ति हैं, यह बहुत ही अनुपयुक्त है। कुछ शारीरिक अवयवों में भिन्नता रहने मात्र से नर और नारी में से किसी की हीनता या महत्ता नहीं मानी जा सकती है। इतिहासकार जानते हैं कि लाखों वर्षों तक संसार में 'मातृकुल' पद्धति का प्रचलन रहा है। माताएँ अपने परिवार की स्वामिनी होती थीं, नर उन्हों के अनुशासन में रहते थे। अभी भी भारत में केरल प्रांत में मातृकुलों का प्रचलन है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि स्त्री बड़ी और पुरुष छोटा है। यह सुविधा और व्यवस्था की बात है। उपार्जन कार्य जिसके हाथ होता है वह इस पूँजीवादी युग में स्वतः बड़ा माना जाने लगता है। आमतौर से पुरुष करते हैं, वहाँ पुरुषों को उनका अनुशासन मानना पड़ता है, यह अर्थतंत्र की एक प्रतिक्रिया मात्र है। मानवीय अधिकारों की मूलभूत आस्था पर इसका प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों की दास हैं—यह मान्यता किसी भी प्रकार सामाजिक न्याय के अनुकूल नहीं। परस्पर प्रेम और सद्भाव से तो कुत्ते, घोड़े तक मनुष्य के ऊपर प्राण निछावर करने को तैयार हो जाते हैं। फिर स्त्री, पुरुष जिनकी अपूर्णता ही एक-दूसरे के द्वारा पूर्ण होती है, प्रेम और सौजन्य होने पर दो शरीर एक आत्मा बनकर क्यों न रहेंगे? यह कार्य बंधनों और प्रतिबंधों द्वारा संभव नहीं हो सकता।

हमें हर मानव प्राणी के मौलिक अधिकारों को स्वीकार करना ही चाहिए। हर व्यक्ति समान नागरिक अधिकार लेकर जन्मा है,

इस तथ्य को स्वीकार किया ही जाना चाहिए। जब तक उनके सामाजिक अधिकारों को स्वीकार न किया जाएगा, उन्हें कैदखाने का पशुमात्र बनाकर रखा जाएगा, तब तक हमारी आधी जनता गुलाम-की-गुलाम बनी रहेगी। राजनैतिक स्वतंत्रता मिलने से हमें समता और स्वाधीनता के अधिकार मिले हैं, पर अभी भी स्त्रियों के रूप में आधा भारत उस अधिकार से वंचित है। शूद्रों की और एक-चौथाई जनता भी इन अधिकारों से वंचित है। इसे यों कहा जा सकता है कि उच्चवर्ण के पुरुषों को, जिनकी संख्या मूल आबादी की एक-चौथाई मात्र है, मानवीय स्वाधीनता के अधिकार मिले हैं। तीन-चौथाई जनता को भी यह अधिकार मिलने चाहिए। इसके बिना हमारी एक-चौथाई स्वाधीनता सर्वथा अपूर्ण और अपर्याप्त ही बनी रहेगी।

यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि हम समाज के अभिन्न अंग हैं। जिस प्रकार एक शरीर से संबद्ध सभी अवयवों का स्वार्थ परस्पर संबद्ध है, उसी प्रकार सारी मानव जाति एक ही नाव में बैठी हुई है। घड़ी का एक पुरजा खराब हो जाने पर सारी मशीन ही बंद हो जाती है। शरीर का एक अंग पीड़ित होने पर उसका प्रभाव अन्य अवयवों पर पड़ता है। उसी प्रकार हम सब एक ही सूत्र में पिरोए हुए मनकों की तरह परस्पर संबद्ध हैं। प्रत्येक कड़ी के ठीक तरह जुड़े रहने से ही जंजीर की मजबूती है। उनका बिखरना शुरू हो जाए, तो जंजीर नाम की कोई चीज न रहेगी। तिनके पृथक-पृथक दिशा में अपना स्वार्थ लेकर चल पड़ें, तो रस्सी कैसे बनी रह सकेगी? सींकें यदि आत्म-समर्पण न करें, तो बुहारी कैसे बनेगी? पानी की बूँदें अपने-अपने स्वार्थ अलग सोचें तो इतना विशाल समुद्र कैसे बन सकेगा? जाति और राष्ट्र का अस्तित्व इसीलिए है कि विशाल जनता उसमें आत्मसात हुई होती है। पृथकता की भावना रखने वाले, भिन्न स्वार्थों, भिन्न आदर्शों और भिन्न मान्यताओं वाले लोग कहीं बहुत बड़ी संख्या में भी इकट्ठे हो जाएँ, तो वे एक

राष्ट्र, समाज, एक जाति नहीं बन सकते। एकता के आदर्शों में बँधे हुए और उस आदर्श के लिए सब कुछ निछावर कर देने की भावना वाले व्यक्तियों का समूह ही समाज या राष्ट्र है। शक्ति का स्रोत यही है। परस्पर मिल-जुलकर ऐसी भावना का विकास करने से ही हमारी सर्वांगीण प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

अपने सीमित वर्ग के स्वार्थ की बात सोचना अध्यात्मवादी आदर्शों के विपरीत है, हमें सबके हित में अपना हित सोचना चाहिए। शरीर का एक अंग बहुत बड़ा हो जाए, तो वह बेडौल लगेगा। कुछ लोग धनी, समृद्ध, संपन्न, धर्मात्मा, ज्ञानवान, बलवान बन जाएँ, तो इतने मात्र से किसी बड़े उद्देश्य की पूर्ति होने वाली नहीं। हम सब सुखी रहेंगे, संपन्न बनेंगे, स्वस्थ रहेंगे, सच्चरित्र बनेंगे, तो ही प्रत्येक की सुख-शांति सुरक्षित रह सकेगी। चोर व्यभिचारी और हत्यारों के बीच में निवास करने वाला कोई सज्जन व्यक्ति भी अपनी शांति सुरक्षित नहीं रख सकता। फिर सामाजिक अव्यवस्था के बीच व्यक्तिगत स्वार्थ साधन की बात सोचते रहने पर भी हम कहाँ कुछ लाभ कमा सकेंगे? और यदि कमा लिया, तो उसे कहाँ सुरक्षित रख सकेंगे? कहाँ उसका उपभोग कर सकेंगे?

व्यक्तिगत स्वार्थ को सामूहिक स्वार्थ के लिए उत्सर्ग कर देने का नाम ही पुण्य, परमार्थ है, इसी को देशभक्ति, त्याग, बलिदान, महानता आदि नामों से पुकारते हैं। इसी नीति को अपनाकर मनुष्य महापुरुष बनता है, लोकहित की भूमिका संपादन करता है, अपने आदर्श से अनेक को प्रेरणा देता है और अपने समाज का मुख उज्ज्वल करता है। मुक्ति और स्वर्ग का रास्ता भी यही है। भगवान को प्राप्त करने की मंजिल भी यही है। आत्मा की शांति और सद्गति भी उसी पर निर्भर है। इसके विपरीत दूसरा रास्ता वह है जिसमें व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए सारे समाज का अहित करने के लिए मनुष्य कटिबद्ध हो जाता है। दूसरे चाहे जितनी आपत्ति में फँस जाएँ, चाहे कितनी हानि और पीड़ा उठाएँ, पर अपने स्वार्थ के

लिए किसी की कुछ परवाह न की जाए। अपराध मनोवृत्ति इसी को कहते हैं। आत्म-हनन का, आत्म-पतन का मार्ग यही है। इसी पर चलते हुए व्यक्ति नारकीय यंत्रणा से भरे हुए और सर्वनाश के गर्त में गिरता है।

सबके स्वार्थ में अपने स्वार्थ का समर्पण करके, व्यक्तिगत स्वार्थ से सामूहिक स्वार्थ का अधिक ध्यान रखने का आदर्श, युग निर्माण संकल्प में इसीलिए सन्निहित रखा गया है कि हमारा सर्वांगीण विकास संभव हो सके। सब लोग परस्पर मिल-जुलकर एक-दूसरे को आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने, सुखी बनाने में सहयोग करेंगे, तो वह युग समीप ही दिखाई देगा जिसकी पुनः स्थापना के लिए हम कटिबद्ध हुए हैं।

### हम एकता की ओर बढ़ें

अनेकता में एकता देखने की हमारी सांस्कृतिक उदारता दार्शनिक दृष्टि से सराहनीय ही मानी जा सकती है। परस्पर भारी मतभेद रखने वाले, यहाँ तक कि घोर मतभेद रखने वाले संप्रदाय और धर्म प्रचारक भी यहाँ अपना-अपना काम शांतिपूर्वक करते रहे हैं और कर रहे हैं। अपनी इस विशेषता को कायम रखते हुए भी हमें यह ध्यान रखना ही होगा कि कोई समाज उतना ही संगठित रह सकता है जितनी कि उसमें एकता हो। संसार के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यही प्रतीत होता है कि भाषा, वेश और भाव की एकता ही लोगों को एक संगठन सूत्र में बाँध रही है। जहाँ जितनी भिन्नता बढ़ी है, वहाँ उतना ही विघटन हुआ है। दार्शनिक दृष्टि से भिन्नता में एकता देखना, एक प्रशंसनीय उदारता मानी जा सकती है, पर सामाजिक दृष्टि से, मानवीय मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर यही मानना पड़ेगा कि भिन्नता एक हद तक ही उपयोगी हो सकती है। यदि उसका विस्तार बढ़ेगा, तो निश्चित रूप से विसंगठन ही बढ़ेगा और ऐसा समाज कभी भी सशक्त न हो सकेगा। विचार भिन्नता के कारण परस्पर

उपेक्षा बढ़ेगी और अनैक्य एवं विरोध की परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगेंगी।

भारतीय धर्म की उदारता ने अनेकता को जो छूट दी थी उसका व्यतिक्रम होने से हमें भारी सामाजिक क्षति उठानी पड़ी है। धर्म, संप्रदाय एवं जाति-पाँति के नाम पर हमारा इतना विघटन हुआ है कि कई बार तो हिंदू समाज को एक समाज मानने तक में संकोच होने लगता है। संसार के अन्य देशों पर दृष्टिपात करने से उनकी आंतरिक एकता को बनाए रहने में कुछ मूलभूत तथ्य काम करते दीखते हैं। भाषा, वेश और भाव के बंधनों में बँधे रहकर ही वे एकता का मधुर फल प्राप्त कर सकने में समर्थ हो रहे हैं। योरोपियन लोगों की एक ही पोशाक है; कोट, पेंट, टाई, टोप पहने ही सब लोग दिखाई पड़ेंगे। यों सिलाई में थोड़ा फर्क हो सकता है, पर मोटे तौर पर सबकी पोशाक एक-सी होगी। रोमन लिपि और अंगरेजी भाषा ने पृथ्वी के एक बड़े क्षेत्र को एकता के सूत्र में बाँधा है। ईसाई, धर्म, बाइबिल, गिरजा बपतिस्मा और ईश्वर पुत्र ईसा की मान्यता ने संसार के आधे भाग को जातीय भावनाओं में आबद्ध करके उनमें एकता और संगठन की परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं।

इस्लामी संस्कृति की यही अपनी विशेषता है और उनकी धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताएँ एक-सी होने के कारण संसार भर में जहाँ कहीं भी इस प्रकार के लोग हैं भ्रातृ-भाव का उत्साह अनुभव करते हैं। चीन, रूस, जापान आदि प्रगतिशील राष्ट्रों में भी वहाँ की एकता का कारण तलाश करने पर यही तत्त्व काम करते दिखाई पड़ते हैं। भारत का जातीय विसंगठन उस भिन्नता के कारण हुआ जो उसके भीतर धर्म, संप्रदाय, जाति-पाँति एवं पूजा पद्धतियों की भिन्नता के कारण पैदा हुई। दार्शनिक दृष्टि से यह भिन्नता भले ही उदारता का चिह्न मानी जाए, पर सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह हेय और

हानिकारक ही सिद्ध होती है। 'अति' हर बात की बुरी होती है। विचार भिन्नता के आधार पर यदि सब लोग मनमानी करने लगें, तो फिर एकता का स्थिर रह सकना कभी भी संभव न होगा।

पिछले एक हजार वर्ष का दुःखद इतिहास इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है। मुसलमान और योरोपियन आक्रमणकारियों की संख्या बहुत थोड़ी थी। इतने बड़े देश में मुट्ठीभर आक्रमणकारियों की जादू जैसी सफलता का कारण हमारी आंतरिक विसंगठनकारी प्रवृत्तियाँ ही हैं। आक्रमणकारियों ने जिस राज्य पर हमला किया, दूसरे लोग अपने संप्रदाय, जाति या उपास्य की भिन्नता के कारण उस विजित की पराजय पर हर्ष मनाते रहे, उपेक्षा करते रहे। इसी क्रम से एक-एक करके सब राज्य विदेशी गुलामी के चंगुल में जकड़ते चले गए। नृशंस अत्याचारों को खून के आँसू पी-पीकर लोग देखते रहे, पर संगठित प्रतिरोध की कोई व्यवस्था न हो सकी। भावनात्मक दृष्टि से विसंगठित राष्ट्र भला कर भी क्या सकता था, उसकी दुर्बलता स्वाभाविक थी। दुर्बल के सामने पराजित होने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं होता। मुसलमान आक्रमणकारियों को उनकी सशक्तता ने नहीं, यहाँ की फूट और विशृंखलता ने सफलता की जयमाला पहनाई।

अंगरेज, पुर्तगाली, फ्रांसिसी यहाँ व्यापारी बनकर आए थे। यहाँ की विविधता में उन्होंने फूट को परखा और केवल कुटिलता के आधार पर इतने बड़े देश को चुटकी बजाते जितनी देर में हड़प लिया। धन्यवाद भगवान को इसी बात का है कि उसने जातीयता की चेतना दी और जब गाँधीजी ने संगठित राष्ट्र के रूप में यहाँ की जनता को खड़ा कर दिया, तो उस एकता की शक्ति ने ही गुलामी से मुक्ति दिलाने का वातावरण बनाया। यदि उस प्रकार की चेतना उत्पन्न न हुई होती तो कौन जाने कितनी शताब्दियों तक हमें पराधीनता के बंधनों में बँधा रहना पड़ता।

राजनैतिक स्वतंत्रता का भी अपना महत्त्व है, पर उसका वास्तविक लाभ उसी समाज को मिल सकता है जो आंतरिक दृष्टि से सशक्त हो। सशक्तता का सर्वोपरि माध्यम एकता ही तो है। जिन लोगों में एकता होगी वे ही सशक्त होंगे, जिनके भीतर मतभेद बढ़े-चढ़े होंगे, जिन्हें प्रेम और भ्रातृत्व पैदा करने वाले तत्त्वों की कमी का सामना करना पड़ रहा होगा, वे धन, शस्त्र, व्यापार, उद्योग, शिक्षा आदि क्षेत्रों में कितने ही बढ़े-चढ़े क्यों न हों, जातीय दृष्टि से दुर्बल ही रहेंगे और यह दुर्बलता किसी छोटी-सी कठिनाई के आने पर ही फिर गुलामी में परिणत हो सकती है।

इस युग में संगठन को ही शक्ति माना गया है और संगठन का तत्त्वज्ञान यही है कि वह समान गुण-धर्म वाले पदार्थों या मनुष्यों में संभव होता है। जिन्हें एकता का महत्त्व विदित है, जो एकता की शक्ति को जानते हैं और उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं, उन्हें इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि भिन्नता उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को जितना घटाया जा सकता हो, घटाया जाए और समानता एवं एकता उत्पन्न करने वाली संभावनाओं को जितना बढ़ाया जा सकता हो उतना बढ़ाया जाए।

परस्पर प्रेम, सद्भाव, उदारता आदि आध्यात्मिक गुणों के कारण ही सच्ची एकता संभव होती है। इसलिए गुण, कर्म, स्वभाव की दृष्टि से जन-मानस को 'वसुधैव कुटुंबकम्' की ओर अग्रसर किया जाना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ वातावरण आंतरिक-एकता में सहायक नहीं बाधक ही सिद्ध होता है। भाषा, वेश, भाव की एकता बाहरी ही क्यों न कही जाए, आंतरिक-एकता में बहुत सहायता पहुँचाती है। जातिवाद, भाषावाद, प्रांतवाद, संप्रदायवाद का जो विकृत रूप आज देखा जाता है, उसके मूल में भी समान लोगों का एकताबद्ध होकर दूसरे प्रकार के लोगों के साथ पक्षपात करने की नीति ही पाई जाती है। पक्षपात की नीति की हमें निंदा

करनी चाहिए, पर साथ ही मानव स्वभाव की इस विशेषता को भी समझ लेना चाहिए कि बाह्य समानता भी लोगों को परस्पर समीप लाने में बहुत सहायक होती है। अनेक भिन्नताएँ होते हुए भी लोग जाति, भाषा, प्रांत आदि के नाम पर जब गुटबंदी कर लेते हैं, तो इन तथ्यों के व्यापक बनाने पर व्यापक संगठन की संभावना क्यों न बनेगी ?

अपना देश लंबी गुलामी के बाद राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने में समर्थ हुआ है। प्रगति की ओर अनेक दिशाओं में अग्रसर होने का कार्य करना शेष है। इसके लिए आवश्यक शक्ति का संचय करते हुए यह ध्यान रखना ही चाहिए कि बाह्य साधनों की नहीं, आंतरिक एकता और पुरुषार्थ की प्रवृत्ति ही सर्वोपरि साधन हो सकती है, इसके बिना बाह्य उपकरणों के होते हुए भी भीतरी दुर्बलता के कारण प्रगति का कार्य अवरुद्ध ही बना रहेगा। परिश्रम और कल्पनापूर्वक बनाई गई योजनाएँ भी सफल न हो सकेंगी।

भारतीय राष्ट्र को एकता और सशक्ति के लिए प्राणप्रण से प्रयत्न करना चाहिए। लोग अपनी प्रांतीय और क्षेत्रीय भाषाओं का प्रसन्नतापूर्वक उपयोग करें, पर राष्ट्र भाषा हिंदी का प्रचलन अधिकाधिक बढ़ाने का भी ध्यान रखा जाए। कट्टरपंथ और संकीर्णता से दायरा छोटा रह जाता है। उदारता और व्यापकता को अपनाने से ही 'वसुधैव कुटुंबकम्' का लक्ष्य पूरा होगा। भाषा के माध्यम से ही हम सोचते-विचारते, विचारों का आदान-प्रदान करते और एक-दूसरे को समझने में समर्थ होते हैं। एक राष्ट्र या एक समाज की दृढ़ता का महत्व मानने वालों को भाषा की एकता के लिए भी तेजी से कदम बढ़ाने होंगे। भारत का प्रत्येक नागरिक राष्ट्र-भाषा हिंदी को भली प्रकार बोल और समझ सके, इसके लिए जो भी प्रयत्न संभव हो उन्हें करना चाहिए। सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही प्रकार के प्रयत्न इस दिशा में किए जाएँ इसकी आज भारी आवश्यकता है।

राष्ट्रीय-पोशाक जो यहीं की परंपराओं के उपयुक्त हो, धोती, कुर्ता, ऊपर से जवाहरकट या बंद गले का कोट यही उपयुक्त रह सकती है। जलवायु या परंपरा का ध्यान रखे बिना जल्दबाजी में कोई पोशाक राष्ट्रीय घोषित कर देने से उसका प्रचलन नहीं हो सकता। सरकार ने चूड़ीदार पाजामा और अचकन, शेरवानी को राष्ट्रीय पोशाक माना है। सरकारी कामों में उसका प्रयोग होता भी है, पर जन-मानस में वह अभी तक उत्तर नहीं सकी है। कारण कि भारतीय परंपराओं और जलवायु का उसमें समुचित ध्यान नहीं रखा गया है। यह जन रुचि एवं भावनाओं का प्रश्न है, इसका समाधान भी इसी आधार पर किया जा सकता है। विभिन्न प्रांतों में जो अलग-अलग प्रकार की पोशाकें पहनी जाती हैं, उस अनेकता को धीरे-धीरे कम करना चाहिए और समानता के महत्त्व को समझना चाहिए। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की आवश्यकता रहने से उनका निर्माण मँहगा पड़ता है और शक्ति एवं साधनों का अनावश्यक अपव्यय होता है। वस्त्र, आभूषण, बर्तन आदि में समता रहे तो निर्माण कार्य व्यापक होने से सस्ता पड़ेगा और भावनात्मक एकता भी स्पष्टतः बढ़ेगी।

भावनाओं में आध्यात्मिकता का अधिकाधिक समावेश होना चाहिए। संयम, सदाचार, पुरुषार्थ, श्रमशीलता, मधुरता, स्वच्छता, कर्तव्यनिष्ठा, समय का पालन, क्रियात्मकता, उदारता, शिष्टता जैसे सद्गुणों को हमारी भावनाओं में समुचित स्थान मिलना चाहिए। यही आध्यात्मिक गुण मनुष्य-जाति के विकास में सच्ची सहायता कर सकते हैं। स्वार्थपरता और दुष्टता, आलस्य और असंयम का दोष किसी सशक्त राष्ट्र को भी अपंग बना सकता है, फिर हम पिछड़ी स्थिति के लोगों के लिए तो यह नितांत आवश्यक है कि सहिष्णुता, सज्जनता, सामूहिकता एवं सहयोग भावना का अधिकाधिक विकास होता चले। मतभेदों को सुलझाने के लिए विचार-विनिमय, मध्यस्थता एवं पंच निर्णय जैसे महकमों को अपनाया

जाए। सामाजिक रीति-रिवाजों में समानता उत्पन्न की जाए। कुछ दिन पहले विभिन्न देहातों में, प्रांतों एवं क्षेत्रों में तोल के बाँट अलग-अलग थे, कच्ची तोल, पक्की तोल के अनेक मापदंड प्रचलित थे। उनमें असुविधा ही रहती थी। अब जब कि हर जगह एक-सी तोल नाप हो गई है, तो उससे सुविधा ही रहती है। ईसाई, मुसलमान, बौद्ध आदि प्रधान धर्मों के अनुयायी प्रायः एक से ही रीति-रिवाज मानते हैं। देशों की अपनी-अपनी परंपराएँ भी एक-सी हैं। भारतवर्ष इसका अपवाद है, यहाँ इतनी अधिक भिन्नतायुक्त प्रथा परंपराएँ प्रचलित हैं कि उनके कारण एकता में भारी बाधा पहुँचती है। हमें यह भी प्रयत्न करना चाहिए कि धार्मिक एवं सामाजिक मान्यताओं और प्रथा-परंपराओं में प्रचलित असमानताएँ दूर करके समानता की ओर बढ़ा जाए। कुरीतियों का दमन और शोधन किया जाए। इस संबंध में धर्म पुरोहित एवं गुरुजन यदि दूरदर्शिता से काम लें तो परस्पर विचार-विनिमय द्वारा जातीय एकता का मार्ग बढ़ी आसानी से प्रशस्त कर सकते हैं।

पूजा, उपासना एवं कर्मकांड, दर्शन, धर्म-ग्रंथ आदि की समानता भी जातीय एकता की दृष्टि से आवश्यक है। इनमें भिन्नता रहने से जातीयता की भावना दुर्बल होती है। मुसलमान और ईसाई धर्मों की शक्ति उनकी धार्मिक एकरूपता में सन्निहित है। एक पैगंबर, एक प्रकार का ईश्वर, एक धर्म-ग्रंथ, एक दर्शन, एक संहिता होने से थोड़े ही समय में इन धर्मों ने संसार में अपना भारी प्रभाव बढ़ाया है। हिंदू-धर्म की भिन्नताएँ उसके अनुयायियों में भी अश्रद्धा एवं उपेक्षा की भावनाएँ उत्पन्न कर रही हैं। नई पीढ़ी उन्हें ढोंग मानने लगी है और शिखा सूत्र जैसे आवश्यक प्रतीकों का भी परित्याग कर रही है, जबकि मुसलिम धर्म में सुन्नत जैसी कष्टकर प्रथा भी सहर्ष सर्वत्र श्रद्धापूर्वक अपनाई जाती है। सिक्ख धर्म के अनुयायी पंच केश रखने में अपना सौंदर्य नष्ट हुआ नहीं समझते, पर हिंदू के लिए चोटी के चार बाल रखना भी भारी पड़ता है।

इसका दोष युवकों का नहीं, उस विशृंखलता एवं अव्यवस्था का है जिसके कारण हिंदू-धर्म का कोई एक रूप नहीं बन पाता और उसकी मान्यताओं को बुद्धिवादी ढंग से समझना या समझाया जाना संभव नहीं होता।

सशक्त समाज एवं राष्ट्र के रूप में अपने को परिणत देखने की आकांक्षा करने वाले प्रत्येक देशभक्त एवं धर्म प्रेमी के लिए यह आवश्यक है कि इन त्रुटियों पर विचार करे, उनके कारण होने वाली क्षति को समझे और नवनिर्माण के लिए कुछ करने की आवश्यकता अनुभव करे। वर्तमान स्थिति को ज्यों-का-त्यों बनाए रखकर हम प्रगति की ओर बढ़ न सकेंगे। मार्ग के रोढ़ों को हटाए बिना और कोई गति नहीं। इसके लिए उपाय सोचना और उसे कार्यान्वित करने के लिए अग्रसर होना नितांत आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति आज के प्रबुद्ध एवं विचारशील लोगों को ही करनी पड़ेगी।

## समाज-सुधार की अनिवार्य आवश्यकता

हमारे समाज में जहाँ अनेक अच्छाइयाँ हैं, वहाँ कितनी ही बुराइयाँ भी हैं। अच्छाइयों को दृढ़तापूर्वक अपनाए रहने की निष्ठा जहाँ हममें होनी चाहिए, वहाँ इतना साहस भी रहना चाहिए कि जिन कुरीतियों को अनुचित एवं हानिकारक समझते हैं उनका परित्याग कर सकें। समय के परिवर्तन के साथ-साथ रीति-रिवाजों और प्रथा-परंपराओं को बदलने की भी आवश्यकता होगी, यदि यह परिवर्तन एवं सुधार कार्य रुक जाए, तो समाज में सड़न पैदा हो जाती है। काल प्रभाव से जो प्रथाएँ असामयिक हो चुकी हैं, उनका त्याग अथवा सुधार अनिवार्य है।

जाड़े में गरम कपड़े पहने जाते हैं, पर गरमी आते ही हल्के वस्त्र पहनने पड़ते हैं और जाड़े वाले ऊनी कपड़े तब निरुपयोगी हो जाने के कारण उठाकर रख देने पड़ते हैं। बरसात में छाता आवश्यक होता है, पर सरदी में उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। स्वस्थ

मनुष्य जो कुछ खाता है वह बीमार होने पर नहीं दिया जा सकता। खुशहाली के दिनों में जैसा खरच करते हैं, अकाल पड़ जाने पर उसमें बहुत किफायत करनी पड़ती है। समयानुसार परिवर्तन की बात सभी स्वीकार करते हैं, इसी में बुद्धिमत्ता भी है। वैदिक-काल में यज्ञों को आवश्यक धर्म-कृत्य माना जाता था। कालांतर में उस विधान में विकृति आई और लोग यज्ञों के नाम पर पशुबलि करने लगे। देवी-देवताओं पर भी बलि चढ़ाई जाने लगी। एक अच्छी यज्ञ-प्रथा जिसमें लोग अपनी बुराइयों और दुष्प्रवृत्तियों रूपी पशुता की बलि दिया करते थे। समय के परिवर्तन के साथ-साथ पशुबलि जैसे धृणित कार्य में बदल गई। इसे सुधारने के लिए भगवान बुद्ध आए, उन्होंने अहिंसा का आंदोलन चलाकर पशुबलि की प्रथा-परंपरा का उन्मूलन करके रख दिया। कुछ दिन बाद अच्छी प्रथाएँ भी रूढ़ि बन जाती हैं और लोग अपनी बुराइयों को मिलाकर उन अच्छाइयों को भी विकृत कर देते हैं, तब उन्हें भी सुधारना आवश्यक हो जाता है।

बुद्ध द्वारा प्रचारित अहिंसा का सिद्धांत बड़ा अच्छा था, पर कालांतर में लोग उसके कारण कायर, अकर्मण्य और आत्म-रक्षा योग्य पौरुष से भी हीन होने लगे। तब भगवान शंकराचार्य ने उसमें सुधार करने का आंदोलन आरंभ किया। उन्होंने बुद्ध धर्म की मान्यताओं का, अहिंसा के विकृत स्वरूप का विरोध करके पुरुषार्थपूर्ण वेदांत का प्रतिपादन किया और बुद्ध धर्म की जड़ हिला दी।

बहुत समय बीतने पर जब वेदांत भी मिथ्या अहंकार का रूप धारण करने लगा और लोग समाज से विरक्त होकर शुष्क व्यक्तिवादी बनने लगे, अपने मतलब-से-मतलब रखने लगे, तो उसकी बुराइयों को देखते हुए संतों ने भक्तिवाद का प्रचलन किया। सामूहिक कीर्तनों, मंदिरों एवं धर्मोत्सवों का प्रसार करके उन्होंने हिंदू समाज में उस समय फैली हुई पृथक्कवादी विचारधाराओं को

सामूहिकता एवं संगठन के रूप में मोड़ा, जिससे विशृंखलित हिंदू समाज परस्पर मिलने-जुलने का महत्व समझे और विदेशी आक्रमणों का जो ताँता उस समय लगा हुआ था, उसके विरुद्ध संगठित होने का प्रयत्न करे।

सिक्ख धर्म का आध्यात्मिक स्वरूप भक्तिवादी है। गुरु नानक की वाणियाँ ग्रंथ साहिब में भक्तिवाद की ही धारा है, पर वस्तुतः उस संगठन ने हिंदू समाज पर हो रहे विधर्मी आक्रमणों से रक्षा का बहुत बड़ा कार्य संपन्न किया। उस समय राजनैतिक एवं सामाजिक संगठन संभव नहीं था। जनता को धार्मिक झंडे के तले ही इकट्ठा किया जा सकता था। भक्ति-काल में यही प्रयत्न होते रहे। इसके बाद वह भक्तिवाद भी कालांतर में ढोंग-पाखंड का केंद्र बन गया। निकम्मे, आलसी एवं धूर्त लोग इसी बहाने लोगों की श्रद्धा का पोषण करने लगे। उसमें सुधार की आवश्यकता अनुभव हुई, तो स्वामी दयानंद ने आर्य समाज का आंदोलन आरंभ किया और कितनी ही कुरीतियों का उन्मूलन करके सुधार की एक महत्वपूर्ण धारा प्रवाहित कर दी।

यह सुधार कार्य सदा से होता रहा है। समय-समय के ऋषि उस समय की परिस्थितियों को देखकर विभिन्न स्मृतियों की रचना करते रहे हैं। आजकल हिंदू कानून याज्ञवल्क्य स्मृति के आधार पर बना हुआ है। इससे पूर्व कालों में मनुस्मृति, पाराशर स्मृति आदि अनेक स्मृतियाँ कार्यान्वित रही हैं। समय बदलने के साथ-साथ ऋषियों को स्मृतियाँ भी बदलने की आवश्यकता अनुभव होती रही और तदनुसार उन्होंने सामयिक विधानों को बदल देने में भी संकोच नहीं किया। मानवता के नैतिक गुणों को प्रतिपादन करने वाला आध्यात्मिक धर्म अपरिवर्तनशील है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, दान, परोपकार, तप संयम आदि के आध्यात्मिक नियम हर युग में एक से रहते हैं, पर खान-पान, वेषभूषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि के व्यावहारिक धर्म में सामयिक स्थिति के

अनुसार हेर-फेर होता रहता है। एक समय में अच्छी रही वस्तु समयानुसार जब जीर्ण-शीर्ण हो जाती है, तो उस फटी-पुरानी को बदल कर उसके स्थान पर नई को लाया जाता है। बूढ़े बैलों को पेंशन देकर नए बछड़े खरीदने का क्रम हर किसान के यहाँ चलता रहता है। हमारा शरीर भी जब बूढ़ा हो जाता है, उस समय चूँकि यह शरीर पुराना है इसलिए बढ़िया है, उसे नहीं छोड़ेंगे, ऐसा सोचा जाए तो इस दुनिया में बूढ़े, बीमार ही भरे पड़े रहेंगे और तब हर दिशा में अस्पताल जैसी पीड़ा परेशानी ही बिखरी दिखाई देगी।

हर परिवर्तन असुविधाजनक होता है, पर उसके किए बिना काम नहीं चलता। सरकारी कर्मचारियों की बदली होती रहती है, तो उसमें कुछ अड़चन और परेशानी जरूर होती है, पर यह अनिवार्य है। सब कर्मचारी अपने-अपने स्थान पर जमे बैठे रहें तो उसके राग-द्वेष का अनुचित प्रभाव जनता पर पड़ने लगेगा, इसलिए बहुत खरच पड़ने और परेशानी होने की बात को जानते हुए भी कर्मचारियों का परिवर्तन होते रहना आवश्यक माना जाता है। रीति-रिवाजों का हेर-फेर भी इसी प्रकार अनिवार्य एवं आवश्यक होता है। अपरिवर्तनवादियों को उसमें बहुत अड़चन जैसी बात दीखती है और वे विरोध भी करते हैं, पर उनके विरोध को सहन करते हुए भी समाज को आगे ही बढ़ना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं।

यवन काल में जब कुमारी कन्याओं का अपहरण शासकों की वासनाअग्नि तृप्त करने के लिए आम बात बनी हुई थी, तब छोटी लड़कियों को बहू के रूप में परिणत कर देने की उपयोगिता सोची गई। यद्यपि उससे होने वाली शारीरिक और मानसिक हानि को सब लोग समझते थे, पर अपहरण जैसे आघात को सहने की अपेक्षा वह हानि कम महत्व की समझी गई और बाल-विवाह चल पड़ा। पंडित काशीनाथ ने 'शीघ्रबोध' में ८, ९, १० वर्षों की कन्याओं के विवाह का प्रतिपादन श्लोक बनाकर कर दिया और यहाँ तक लिख

दिया कि बारह वर्ष से अधिक बड़ी कन्या हो जाने पर भी विवाह न करने से उसके अभिभावक रौरव नरक को जाते हैं। विचार की दृष्टि से बात बिलकुल अटपटी है। कहाँ तो वैदिक काल में पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन करने के बाद लड़के-लड़कियों के विवाह करने की सुदृढ़ परंपरा और कहाँ यहाँ आठ वर्ष की कन्या का विवाह करने पर स्वर्ग का पुण्य मिलने की उपहासास्पद व्यवस्था, पर उस समय वही उचित था। बाल-विवाह की सामयिक उपयोगिता सबकी समझ में आ गई और उसका प्रचलन कुछ ही दिनों में हो गया। किसी समझदार ने उसका विरोध नहीं किया। परदा-प्रथा भी इसी आधार पर बनी। स्त्रियों को घर से बाहर न जाने देने, घर के भीतर ही रहने, यज्ञ आदि किसी सामूहिक कार्य में भाग न लेने की प्रथा इसलिए चलाई गई कि अपनी बहू-बेटियों के रूप-लावण्य की चरचा बाहर न फैलने पाए और आततायियों का दाँत उन पर होने से भयंकर आपत्तियाँ आने से बचाव हो सके। वह परिस्थितियाँ आज नहीं रहीं। आज हमारी बहन-बेटियों की इज्जत सुरक्षित है, फिर बाल-विवाह और परदा-प्रथा की क्या उपयोगिता रह जाती है? यह तर्क किसी काम का नहीं कि यह पुरानी प्रथा है। ब्रह्मचर्यपूर्वक पच्चीस वर्ष तक विद्याध्ययन करके विवाह करने वाली बात को एक समय बदलकर बाल-विवाह जैसी अटपटी बात को स्वीकार कर लिया गया, तो अब वैसी परिस्थिति न रहने पर सनातन वैदिक परंपरा को पुनः लाने में क्यों आपत्ति होनी चाहिए? परदा भारतीय संस्कृति के सर्वथा विपरीत है। प्राचीन काल की महिलाओं के रहन-सहन का वर्णन जिन धर्म ग्रन्थों में मिलता है, उनमें परदा का कहीं संकेत भी नहीं है। चित्रों में भी कोई प्राचीन-काल की भारतीय नारी घूँघट काढ़े नहीं दिखाई देती। फिर मध्यकाल की एक सामाजिक प्रथा को हम अतीत से चली आने वाली सनातन प्रथा की तुलना में क्यों महत्त्व दें? परदा-प्रथा और बाल-विवाह की कोई उपयोगिता

किसी भी दृष्टि से जब दिखाई नहीं देती, तो उनके लिए आग्रह क्यों किया जाए?

किसी समय संग्रहीत धन को सुरक्षित रखने के लिए बैंक जैसे कोई विश्वस्त संस्थान न थी। घर में धन रहने पर चोरी होने का डर रहता था। इसलिए लोग अपनी संग्रहीत कमाई को सोने-चाँदी के जेवर बनाकर हर घड़ी अपने साथ रखते थे और शरीर पर धारण किए रहते थे। आज स्थिति भिन्न है। बैंकों में पैसा सुरक्षित भी रहता है, जेवर बनाने में टाँका, बट्टा, मजूरी, टूट-फूट, घिसन आदि में नुकसान भी बहुत होता है, साथ ही शत्रुता, ईर्ष्या, देखा-देखी में गरीबों को भी उनकी आकांक्षा जगने से किसी भी प्रकार धन प्राप्त करने की अभिलाषा, चोरी, डकैती, हत्या आदि का खतरा पैदा होता है। गंदगी बढ़ती है एवं नाक में पहने जाने वाले जेवरों से तो सांस लेने एवं नासिका छिद्रों की सफाई तक में बाधा पड़ती है जो आरोग्य की दृष्टि से बहुत हानिकारक है। इन बुराइयों को जानते हुए भी, जेवर की अनुपयोगिता समझते हुए भी यदि हम केवल प्रथा-परंपरा के आधार पर उसे अपनाए रहते हैं, तो इसमें कौन-सी बुद्धिमत्ता की बात कही जा सकती है?

किसी समय साधु और ब्राह्मण वर्ग के लोग परम निःस्वार्थ, त्यागी, तपस्वी, अपरिग्रही और लोक-सेवी होते थे। वे साधना और स्वाध्याय द्वारा आत्मबल एकत्रित करते थे और लोक-शिक्षण एवं सामाजिक उत्कर्ष के धर्म आयोजनों में निरंतर लगे रहते थे। जन-मानस में सद्ज्ञान का प्रकाश करना ही उनका लक्ष्य होता था और इस कार्य में वे प्राणप्रण से अहिनिंशि संलग्न रहते थे। ऐसे देव पुरुषों के भरण-पोषण की व्यवस्था की सामग्री श्रद्धापूर्वक दान-दक्षिणा के रूप में उन्हें दे दी जाती थी। उस समय निश्चय ही ब्रह्मभोज या साधु, ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देने का बड़ा महत्व था।

आज परिस्थितियाँ बदल गईं। आत्म-निर्माण, तपश्चर्या, ज्ञान-साधना एवं लोक-सेवा से सर्वथा विहीन व्यक्ति ब्राह्मण वंश में उत्पन्न होने या रंगीन कपड़े पहनकर साधुवेश धारण कर लेने मात्र से अपने को दान लेने का अधिकारी मानते हैं। जनता भी परिस्थितियों के परिवर्तन का ध्यान न रखकर प्राचीनकाल के सच्चे साधु-ब्राह्मणों की तरह उनका सम्मान करती है। इससे लाभ कुछ नहीं हानि अधिक है। निठल्ले लोगों को मुफ्त में पैसा मिलने से आलस्य, अकर्मण्यता, व्यसन, अहंकार आदि अनेक बुराइयाँ उत्पन्न होती हैं। जो दान सत्कर्मों में लगना चाहिए था, वह कुपात्रों के हाथ में चला जाने से समाज का अहित ही होता है। देने वालों की गाढ़ी कर्माई तो बरबाद हो ही जाती है। समय की माँग है कि इस स्थिति को बदला जाए। पुरानी परंपरा मात्र का अंधानुकरण न किया जाए।

प्राचीनकाल में ज्ञान, सुरक्षा, व्यवसाय और शारीरिक श्रम की परंपराओं को सुविकसित करने के लिए राष्ट्रीय आवश्यकताओं को चार भागों में बाँटा गया था और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चार वर्णों में गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर बँटे हुए लोग अपना-अपना काम पीढ़ी-दर-पीढ़ी ठीक प्रकार चलाते जाते थे। इससे प्रत्येक कार्य सुव्यवस्थित रीति से चलता था। सभी वर्णों के लोग परस्पर समान स्थिति में रहते और समान सम्मान एवं समान अधिकार का उपभोग करते थे।

समय के फेर से यह वर्गीकरण ऊँच-नीच, छूत-छात और जाति-पाँति की वर्तमान विभीषिका के रूप में बदल गया। किसी वंश में जन्म लेने मात्र से किसी को ऊँच, किसी को नीच समझा जाने लगा। कर्म की महत्ता छोड़कर लोग वंश को महत्त्व देने लगे। सर्वर्ण कहे जाने वाले लोगों में से कई व्यक्तियों का आचरण बहुत ही गर्हित होने तथा अन्य वर्णों के लिए निर्धारित कार्य करने पर भी अपने को उच्च वर्ण का मानने लगे और इसी भ्रमपूर्ण मान्यता का

अहंकार भी करने लगे। कितने ही सत्कर्म करने वाले सुयोग्य और सुविकसित लोग इसलिए तिरस्कृत किए जाने लगे कि इन्होंने किसी छोटे वंश में जन्म लिया था। यह मान्यताएँ न विवेकसंगत हैं, न न्यायसंगत, न शास्त्रसंगत। केवल भ्रम और रूढिवादिता ही इन मान्यताओं का आधार है।

हमारे समाज में ऐसी अनेक कुरीतियाँ एवं अंध परंपराएँ प्रचलित हैं और जातीय जीवन में घुन की तरह लगी हुई उन्हें निरंतर खोखला बनाती चली जा रही हैं। आज समय की पुकार है कि इन मान्यताओं को बदला जाए और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज को सुसंस्कृत बनाने के लिए आवश्यक परिवर्तन के लिए तैयारी की जाए।

हमारा समाज जितना श्रेष्ठ और प्राचीन है उतनी ही कुरीतियाँ और बुराइयाँ भी उसमें प्रवेश कर गई हैं। जिस प्रकार शिर में पड़ जाने वाले जुओं को बीन-बीनकर फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार सामाजिक रीत-रिवाजों को भी विवेक की कसौटी पर कसना होगा, जो उपयुक्त हों, उनको प्रोत्साहन देने और जो अनुपयुक्त हों, उनका परित्याग करने के लिए हमें तत्पर होना होगा। दूरदर्शी किसान अपनी खेती में उपजने वाले धान्य को सोंचता रहता है, पर हानिकारक घास-पात को खोदता-हटाता भी रहता है। यदि ऐसा न किया जाए, तो निरर्थक घास-पात बढ़ जाने से धान्य की फसल ही नष्ट हो जाएगी। समाजरूपी खेत में जहाँ सत्प्रवृत्ति की फसल को सोंचा और रखाया जाना आवश्यक है वहाँ कुरीतियों के घास-पात को उखाड़ने की भी नितांत आवश्यकता रहेगी। हमें इस ओर से उदासीन नहीं रहना चाहिए।

एक मानसिक दुर्बलता लोगों में यह देखी जाती है कि उन्हें पुराना ढर्हा ही पसंद होता है। नई व्यवस्था पर चलते हुए उन्हें झिझक एवं संकोच का अनुभव होता है। अच्छाई को अच्छाई मानते हुए भी वे संकोचवश उसे कर नहीं पाते और बुराई को बुराई

समझते हुए भी उसको हटाने का साहस उनमें नहीं होता। वे सोचा करते हैं कि इस परिवर्तन का लोग उपहास या विरोध करेंगे। अनेक तरह की बात कहेंगे और तरह-तरह के प्रश्न पूछेंगे, उनका उत्तर देने या समाधान करने का साहस अपने में न होने से झेंप उठानी पड़ेगी और हमारी अप्रतिष्ठा बढ़ेगी, पर यह मान्यता सर्वथा थोथी और निरर्थक है। वीर और साहसी पुरुष जो अनुपयुक्त प्रथाओं को तोड़कर उपयुक्त प्रथाओं की स्थापना में अग्रसर होते हैं, वे जन नेतृत्व करने वाले महापुरुष एवं युग प्रवर्तक समझे जाते हैं।

## हमारा समाज असभ्य एवं अविवेकी न हो

असभ्य समाज में, अविवेकी लोगों में रहने वाला कोई भी श्रेष्ठ व्यक्ति शांति लाभ नहीं कर सकता। कोई असाधारण मनस्वी उन्हें सुधारने में अपनी असाधारण प्रतिभा व्यय करते हुए कुछ अनुकूलता तो उत्पन्न कर सकता है और ऐसा भी हो सकता है कि सर्वों के लिपटे रहने पर भी अप्रभावित रहने वाले चंदन वृक्ष की तरह अपनी मानसिक शांति को स्थिर रख सके, पर ऐसा होता कम ही है, कोई बिरले ही लोग इस उच्च स्थिति के होते हैं। महात्मा इमर्सन जैसे लोग उँगलियों पर गिनने लायक ही होते हैं, जो यह दावा कर सकें कि “मुझे नरक में भेज दो, मैं अपने लिए वहाँ भी स्वर्ग बना लूँगा।”

बुरे लोगों के बीच रहते हुए सज्जनों को भी कष्ट ही होता है। जहाँ नर बलि चढ़ाने की प्रथा है उन निर्दय, अविवेकी, जंगली, असभ्य लोगों की बस्ती में रहने वाले भले मानुष को भी अपनी सुरक्षा कहाँ अनुभव होगी? बेचारा डरता ही रहेगा कि किसी दिन मेरा भी नंबर न आ जाए। गंदे लोगों के मोहल्ले में रहने वाले सफाई पसंद व्यक्ति का भी कल्याण कहाँ है? चारों ओर गंदगी सड़ रही होगी, बदबू उठ रही होगी, तो अपने एक घर की सफाई रखने से भी क्या काम चलेगा? दूसरों के द्वारा उत्पन्न की हुई गंदगी हवा के साथ उड़कर उस स्वच्छ प्रकृति मनुष्य को भी प्रसन्न न रहने देगी।

बाजार में हैं जा फैले तो स्वास्थ्य के नियमों का पालन करने वाले भी उसकी चपेट में आते हैं। मोहल्ले में आग लगे तो अपना छप्पर भी उसकी लपटों में आता है।

एक गाँव के कुछ लोग सांप्रदायिक दंगा करें या कोई और उपद्रव करें, तो सरकार उसका सामूहिक जुरमाना सारे गाँव पर करती है और शांतिप्रिय लोगों को भी वह दंड चुकाना होता है। तब शांतिप्रिय लोगों को भी कानून में निर्दोष नहीं माना जाता, क्योंकि किसी व्यक्ति का इतना ही कर्तव्य नहीं है कि वह शांति के साथ सभ्यतापूर्वक स्वयं रहे वरन् यह भी उसका कर्तव्य है कि जो दूसरे उपद्रवकारी हैं, उन्हें समझाए या रोके, न रुकते हों तो प्रतिरोध करे। यदि किसी ने अपने तक ही शांति को सीमित रखा है, दूसरे उपद्रवियों को नहीं रोका है, तो यह न रोकना भी नागरिक शास्त्र के अनुसार, मानवीय कर्तव्य शास्त्र के अनुसार एक अपराध है और उस अपराध का दंड यदि सामूहिक जुरमाने के रूप में वसूल किया जाता है, तो उस शांतिप्रिय व्यक्ति की यह दलील निकम्मी मानी जाएगी कि मैं क्या करूँ? मेरा क्या कसूर है? कोई मैंने थोड़े ही अपराध किया है?

हमें स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं अपराध न करना ही हमारी निर्दोषता का प्रमाण नहीं है। अपराधों और बुराइयों को रोकना भी प्रत्येक सभ्य एवं प्रबुद्ध नागरिक का कर्तव्य है। यदि किसी की आँखों के आगे हत्या, लूट, चोरी, बलात्कार आदि नृशंस कृत्य होते रहें और वह मौन पत्थर की तरह चुपचाप खड़ा देखता रहे, कोई प्रतिरोध न करे, तो यह निष्क्रियता एवं अकर्मण्यता भी कानून अपराध मानी जाएगी और न्यायाधीश इस जड़ता के लिए भी दंड देगा। इसे कायरता और मानवीय कर्तव्यों की उपेक्षा माना जाएगा। गाँवों में जिनके पास बंदूकें रहती हैं, उनका यह कर्तव्य भी हो जाता है कि यदि गाँव में दूसरों के यहाँ डकैती पड़े, तो डाकुओं से मुकाबला करने के लिए उन

बंदूकों का उपयोग करें। यदि वे बंदूक वाले डर के मारे अपने घरों में चुपचाप जान बचाए बैठे रहें और डकैती बिना प्रतिरोध के पड़ती रहे, तो इस कांड में डकैतों की तरह उन डरपोक बंदूकधारियों को भी अपराधी माना जाएगा और सरकार उनकी बंदूकें जब्त कर लेगी।

समाज शास्त्र के अनुसार प्रत्येक सभ्य नागरिक का यह पवित्र कर्तव्य है कि बुराइयों से वह स्वयं बचे और दूसरों को बचाए। अपराध स्वयं करे और न करने दे। जो स्वयं तो पाप नहीं करता, पर पापियों का प्रतिरोध नहीं करता, वह इस प्रकार से पाप का पोषण ही करता है। क्योंकि जब कोई बाधा देने वाला ही न होगा, तो पाप और भी तीव्र गति से बढ़ेगा? हम सब एक नाव में बैठे हैं, यदि इन बैठने वालों में से कोई नाव के पेंदे में छेद करे या उछल-कूद मचाकर नाव को डगमगाए तो बाकी बैठने वालों का कर्तव्य है कि उसे ऐसा करने से रोकें। यदि न रोका जाएगा, तो नाव का ढूबना और सब लोगों का संकट में पड़ना संभव है। यदि उस उपद्रवी व्यक्ति को अन्य लोग नहीं रोकते हैं, तो उन्हें यह कहने का अधिकार नहीं है कि क्या करें, हमारा क्या कर्सूर है, हमने नाव में छेद थोड़े ही किया था। छेद करने वाले को न रोकना भी स्वयं छेद करने के समान ही घातक है। मनुष्य समाज परस्पर इतनी घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है कि अपना स्वयं का पाप ही नहीं, दूसरों का पाप भी दूसरों को भुगतना पड़ता है। जयचंद और मीरजाफर की गददारी से सारे भारत की जनता को कितने लंबे समय की गुलामी की यातनाएँ सहनी पड़ीं।

हमारे समाज में यदि चारों ओर अज्ञान, अविवेक, कुसंस्कार, अंधविश्वास, अनैतिकता, अशिष्टता का वातावरण फैला रहेगा, तो उसका प्रभाव हमारे ऊपर न सही तो अपने परिवार के अल्प विकसित लोगों पर अवश्य पड़ेगा। जिस स्कूल के बच्चे गंदी गालियाँ देते हैं, उसमें पढ़ने जाने पर हमारा बच्चा भी गालियाँ

सीखकर आएगा। गंदे गीत, गंदे फिल्म, गंदे प्रदर्शन, गंदी पुस्तकें, गंदे चित्र कितने असंख्य अबोध मस्तिष्कों पर अपना प्रभाव डालते हैं और उन्हें कितना गंदा बना देते हैं, इसे हम प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देख सकते हैं। दो वेश्याएँ किसी मोहल्ले में आकर रहती हैं, तो वे सारे मोहल्ले में शारीरिक या मानसिक व्यभिचार के कीटाणु फैला देती हैं। शारीरिक न सही, मानसिक व्यभिचार तो मोहल्ले के अधिकांश निवासियों के मस्तिष्क में घूमने लगता है। यदि मोहल्ले वाले उन वेश्याओं को हटाने का प्रयत्न न करें, तो उनके अपने लड़के बरबाद हो जाएँगे। बुराई की उपेक्षा करना पर्याप्त नहीं है, पाप की ओर से आँखें बंद किए रहना सज्जनता की बात नहीं है। इससे तो अनाचार की आग ही फैलेगी और उसकी लपटों से हम स्वयं भी अछूते न रह सकेंगे।

समाज में पनपने वाली दुष्प्रवृत्तियों को रोकना केवल सरकार का ही काम नहीं है, वरन् उसका पूरा उत्तरदायित्व सभ्य नागरिकों पर है। प्रबुद्ध और मनस्वी लोग जिस बुराई के विरुद्ध आवाज उठाते हैं, वह आज नहीं तो कल मिटकर रहती हैं। अंगरेजों के फौलादी चंगुल में जकड़ी हुई भारत की स्वाधीनता को मुक्त कराने के लिए, गुलामी के बंधन तोड़ने के लिए जब प्रबुद्ध लोगों ने आवाज उठाई, तो क्या वह आवाज व्यर्थ चली गई। देर लगी, कष्ट आए, पर वह मोरचा सफल ही हुआ। समाजगत अनैतिकता, अविवेक, अंधविश्वास और असभ्यता इसलिए जीवित है कि उनका विरोध करने के लिए वैसी जोरदार आवाजें नहीं उठतीं जैसी राजनैतिक गुलामी के विरुद्ध उठी थीं। यदि उसी स्तर का प्रतिरोध उत्पन्न किया जा सके, तो हमारी सामाजिक गंदगी निश्चय ही दूर हो सकती है, सभ्य समाज के सभ्य नागरिक कहलाने का गौरव हम निश्चय ही प्राप्त कर सकते हैं।

हम अपनी सामाजिक कुरीतियों पर ध्यान दें, तो लगता है कि लोहे की गरम सलाखों से बनी हुई जंजीरों की तरह वे हमें जकड़े

हुए हैं और हर घड़ी हमारी नस-नस को जलाती रहती हैं। घर में तीन-चार कन्याएँ जन्म ले लें, तो माता-पिता की नींद हराम हो जाती है। वे जैसे-जैसे बड़ी होने लगती हैं, वैसे-ही-वैसे अभिभावकों का खून सूखता चला जाता है। विवाह! आह विवाह!! कन्या का विवाह उनके माता-पिता के यहाँ डकैती, लूट, बरबादी होने के समान है। आजकल साधारण नागरिकों की आमदनी इतनी ही मुश्किल से हो पाती है कि वे अपना पेट पाल सकें। जितना धन दहेज के लिए चाहिए, उतना जमा करना तभी संभव है जब या तो कोई आदमी अपना पेट काटे, नंगा रहे, दवा-दारू के बिना भाग्य भरोसे बीमारी से निपटे, बच्चों को शिक्षा न दे या फिर कहीं से बेईमानी करके लाए।

यह तो एक कुरीति की चरचा हुई। ऐसी अगणित कुरीतियाँ हमें धेरे हुए हैं। स्वास्थ्य सुधार के लिए, शिक्षा के लिए, मनोरंजन के लिए, दूसरों की भलाई के लिए, आत्म-कल्याण के लिए हम कुछ कर नहीं पाते। आधी से अधिक कमाई उन व्यर्थ की बातों में बरबाद हो जाती है, जिनका कोई प्रयोजन नहीं, कोई लाभ नहीं, कोई परिणाम नहीं। धर्म के नाम पर हमारे मनों में उच्चकोटि की भावनाएँ उठती हैं, दान देने की जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसका लाभ, ज्ञान और धर्म बढ़ाने वाले, पीड़ित और पतितों को राहत देने वाले कार्यों की वृद्धि के रूप में विकसित होना चाहिए था, पर होता इससे सर्वथा विपरीत है। काल्पनिक भय दिखाकर संडे-मुसंडे लाल-पीले कपड़े पहनकर लोगों को ठगते रहते हैं। भोले लोग समझते हैं धर्म हो गया, पुण्य कमा लिया, पर वास्तविकता ऐसी कहाँ होती है। मृत्युभोज, पशुबलि, बाल-विवाह, नीच-ऊँच, सयाने-दिवाने, भूत-पलीत, कन्या विक्रय, स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गंदे गीत, होली में कीचड़ उछालना, दिवाली पर जुआ खेलना आदि अगणित ऐसी कुरीतियाँ हमारे समाज में प्रचलित हैं, जिनके कारण अनेक रोगों

से ग्रसित रोगी की तरह हम सामाजिक दृष्टि से दिन-दिन दुर्बल होते चले जा रहे हैं।

ऊपर धार्मिक मान्यताओं के आधार पर प्रचलित कुरीतियों की कुछ चरचा की गई है। राष्ट्रीय दृष्टि से स्वार्थपरता, व्यक्तिवाद, असहयोग, संकीर्णता हमारा एक प्रमुख दोष है। सारी दुनिया परस्पर सहयोग के आधार पर आगे बढ़ रही है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह परस्पर सहयोग के आधार पर ही बढ़ा और समुन्नत हुआ है। जहाँ प्रेम, ममता, एकता, आत्मीयता, सहयोग और उदारता है, वहाँ स्वर्ग हुआ। समाजवाद और साम्प्यवाद की मान्यता यही है कि व्यक्ति को अपने लिए नहीं समाज के लिए जीवित रहना चाहिए। सामूहिक सुख-शांति बढ़ाने के लिए अपनी समृद्धि और सुविधा का त्याग करना चाहिए। धर्म और अध्यात्म की शिक्षा भी यही है कि व्यक्ति अपने लिए धन, वैभव जमा न करके अपनी प्रतिभा, बुद्धि, क्षमता और संपदा को जीवन-निर्वाह की अनिवार्य आवश्यकताओं के लिए ही उपयोग करे और शेष जो कुछ बचता हो सबको सामूहिक उत्थान में लगा दे। जिस समाज में ऐसे परमार्थी लोग होंगे वही फलेगा, फूलेगा और वही सुखी रहेगा। जहाँ स्वार्थपरता, आपाधापी, जमाखोरी की प्रवृत्ति पनप रही होगी, वहाँ अनैतिकता के सभी कुकर्म बढ़ेंगे और फैलेंगे। सामान्य नागरिकों के स्तर से अत्यधिक ऊँचे स्तर का सुखोपभोग करने की प्रवृत्ति जहाँ भी पनपेगी वहाँ शोषण, अन्याय, दुराचार, द्वेष, संघर्ष, ईर्ष्या आदि बुराइयाँ विकसित होंगी।

विवेक, न्याय, अनुशासन, संयम, ईमानदारी, समाजनिष्ठा, सद्व्यवहार, आत्म-गौरव जैसे सद्गुणों का नाम ही सभ्यता है। इसी को संस्कृति कहते हैं। भारतीय संस्कृति तो निश्चित रूप से यही है, इसी के आधार पर हम प्राचीनकाल में महान थे। हमें व्यक्ति और समाज में उन्हीं गुणों का आविर्भाव एवं विकास करना होगा। पोशाक, वेश-भूषा, शिक्षा, धन, पद आदि की दृष्टि से हम

भले ही अपने को सभ्य मानते रहें, पर यह तो विडंबना मात्र है। सच्ची सभ्यता मानवीय गुणों के सामूहिक विस्तार पर ही निर्भर रहती है और उसी के आधार पर कोई समाज या राष्ट्र फलता-फूलता है और तभी उससे संबंधित नागरिकों का सच्चा हित साधन होता है।

सामाजिक कुरीतियों और सामूहिक दुष्प्रवृत्तियों का कायम रहना सज्जनों के लिए भी विपत्ति का कारण ही रहेगा। व्यक्ति कितनी ही उन्नति कर ले, पतित वातावरण में वह उन्नति भी बालू की दीवाल की तरह अस्थिर रहेगी। इसलिए हमें जितनी व्यक्तिगत उन्नति की चिंता है, उतनी ही सामाजिक उन्नति का भी ध्यान रखना होगा और उसके लिए हर संभव प्रयत्न करना होगा। इस दिशा में की गई उपेक्षा हमारे अपने लिए ही घातक होगी। अपने समाज के सुधार पर ध्यान देना उतना ही आवश्यक है जितना अपना स्वास्थ्य एवं उपार्जन की समस्याओं का सुलझाना। समाजगत पापों से हम निर्दोष होते हुए भी पापी बनते हैं। भूकंप, दुर्भिक्ष, युद्ध, महामारी आदि के रूप में ईश्वर भी हमें सामूहिक दंड दिया करता है और सचेत करता है कि हम अपने को ही नहीं सारे समाज को भी सुधारें। स्वयं ही सभ्य न बनें, सारे समाज को भी सभ्य बनाएँ।

### **सभ्यता शिष्टाचार में ही सन्निहित है**

सृष्टि के अन्य जीव-जंतु अपनी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ अपने आप एकाकी रूप से, बिना दूसरों की मदद के पूर्ण कर सकते हैं, पर मनुष्य के बारे में ऐसी बात नहीं है। मानव-जीवन की अधिकांश आवश्यकताएँ ऐसी हैं जिनके लिए उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्न, वस्त्र, मकान, व्यवसाय, चिकित्सा, शिक्षा, वाहन, खेल, विनोद, रिश्तेदारी, सुरक्षा, न्याय, शासन तथा असंख्यों ऐसे उपकरणों के लिए उसे दूसरों का सहारा लेना पड़ता है। इसके बिना जीवन धारण तक संभव नहीं हो

सकता। अन्य जीव जन्म के बाद बहुत थोड़े समय तक माता के सहयोग की अपेक्षा करके जल्द-से-जल्द स्वावलंबी हो जाते हैं, पर मनुष्य का बालक दस-पंद्रह वर्ष का होने तक परावलंबी रहता है। यदि उसे कोई सहयोग संरक्षण न दे तो बेचारे का जीवन-धारण किए रहना भी कठिन हो सकता है। वस्तुतः मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका काम एक-दूसरे के साथ सहयोग के आधार पर ही चल सकता है।

दूसरों के साथ हमारा व्यवहार कैसा है, इसी तथ्य पर जीवन के विकास क्रम का, उन्नति-अवनति का, मैत्री-शत्रुता का, लाभ-हानि का, प्रसन्नता-खिन्नता का, कीर्ति-निंदा का बहुत कुछ आधार निर्भर करता है। यदि हम उद्दंड, उच्छृंखल, कटुभाषी, स्वार्थी, अशिष्ट प्रकृति के हैं और दूसरों में अपने व्यवहार से असंतोष एवं खिन्नता उत्पन्न करते हैं, तो दूसरों की ओर से हमें घृणा, उपेक्षा, निंदा, असहयोग एवं शत्रुता की ही प्रतिक्रिया प्राप्त होगी। वे हमें ओछा-छछोरा, असभ्य, असामाजिक, मूर्ख एवं उद्दंड मानेंगे और जब कभी परस्पर सहयोग का अवसर आएगा, तो अपना हाथ खींच लेंगे, बचने की कोशिश करेंगे। ऐसी परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने आप में कितना ही चतुर एवं दक्ष क्यों न हो घाटे में ही रहेगा। इसके विपरीत जो दूसरों के साथ मधुर, उदार एवं सभ्य व्यवहार करने की कला में प्रवीण हो वह सहज ही औरों का मन जीत लेगा, उन्हें अपने प्रति उदार एवं कृपालु बना लेगा, स्नेह और सहयोग प्राप्त करेगा। फलस्वरूप उसकी उन्नति और सुविधाओं के अनेक साधन सहज ही उपलब्ध होते रहेंगे।

चाहे व्यक्तिगत जीवन हो, चाहे समाज व्यवस्था, प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति, स्थिरता, सुरक्षा एवं शांति, परस्पर स्नेह, सद्भाव के आधार पर ही अवलंबित है। यदि यह धागा टूट जाए, तो माला के सारे दाने बिखर जाते हैं और विकास-क्रम का सारा तारतम्य बिगड़ जाता है। इसलिए बुद्धिमानों ने सदा से इस बात पर जोर दिया है कि

“हर व्यक्ति दूसरों के साथ वैसा मधुर व्यवहार करे, जैसा कि वह अपने लिए औरों से चाहता है।” इसी तथ्य को शिष्टाचार, सभ्यता या नागरिकता के नाम से पुकारा जाता है। वह मनुष्यता का आवश्यक अंग है। जिसमें यह भावना जितनी ही कम है वह उतना ही असभ्य माना जाता है।

हम चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ मीठे वचन बोलें, मानप्रद व्यवहार करें, आदर-सम्मान के साथ पेश आएँ, जो वायदा करें उसे पूरा कर दिया करें, उदार व्यवहार करें और समय-समय पर सहयोग देकर हमारी कठिनाइयों को सरल बनाएँ। ठीक ऐसी ही आकांक्षा दूसरे भी हम से करते हैं। इस मानव मात्र की सामूहिक इच्छा एवं आवश्यकता का नाम ही सभ्यता है। सभ्यता जितनी ही विकसित होती है, उतनी ही सुख-शांति की परिस्थितियाँ उत्पन्न होती और बढ़ती हैं। इसके विपरीत जब इन मर्यादाओं का टूटना आरंभ होता है, लोग एक-दूसरे के साथ उद्धृत व्यवहार करते हैं, शोषण एवं आक्रमण की नीति अपनाते हैं, संकीर्णता और स्वार्थीपन का परिचय देते हैं, तो उसकी प्रतिक्रिया दुःख, कलेश, असंतोष एवं उद्वेग के रूप में होती है। इस प्रकार की गतिविधियाँ-अनैतिकता, पाप, उद्दंडता के नाम से पुकारी जाती हैं और उनके लिए सामाजिक एवं राजकीय प्रतिक्रियाएँ थोड़े से व्यक्ति भी उत्पन्न करते हैं, तो उससे बहुत लोगों की शांति खतरे में पड़ती है। इसलिए मर्यादाएँ तोड़ने वाले, उद्धृत व्यवहार करने वाले असभ्य लोगों को गुंडा, बदमाश, पापी, दुष्ट, लंपट, चोर, उचकका और उद्दंड अपराधी माना जाता है, उनके आतंक को रोकने के लिए सारा समाज कुछ-न-कुछ सोचता और करता है। पुलिस, न्यायालय और कानून का निर्माण इसी आधार पर हुआ है। ऐसे व्यक्ति निश्चित रूप से घृणा के पात्र बनते हैं और दूसरों के स्नेह, सहयोग एवं विश्वास से वंचित होकर हर क्षेत्र में तिरस्कृत, परास्त और असफल होते हैं। इस प्रकार की गतिविधियाँ अपनाना मनुष्यता

के नाम पर बट्टा लगाना है। ऐसा कलंकी जीवन जीने की अपेक्षा मर जाना श्रेष्ठ है।

शिष्टाचार मानवता के प्राथमिक एवं आवश्यक गुणों में से एक है। इससे न केवल सामाजिक सुव्यवस्था स्थिर रहती है, वरन् शिष्ट व्यक्ति दूसरों का स्नेह, सद्भाव एवं सहयोग पाकर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति करता चलता है। इसलिए यह नितांत आवश्यक है कि हम सभ्यता के आवश्यक नियमों को जानें, उनकी आवश्यकता अनुभव करें और अपने व्यावहारिक जीवन में एक अच्छी ग्राह्य आदत के रूप में अभ्यास डालें। अपने बच्चों को आरंभ से ही शिक्षा दें, ताकि वे सभ्यता सीखें और दूसरों के मनों पर अपनी श्रेष्ठता की, शिष्टता की छाप छोड़ने में सफल हों। असभ्यता को छोड़कर सभ्यता को अपनाने की प्रक्रिया को ही 'संस्कृति' कहा जाता है। हिंदू धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के १६ संस्कार किए जाते हैं। पुंसवन, सीमंत, नामकरण, उपनयन, विद्यारंभ, विवाह आदि संस्कारों के समय ऐसा ही धर्म शिक्षण समारोहपूर्वक किया जाता है कि व्यक्ति अपने सामाजिक कर्तव्यों की महत्ता को भली प्रकार हृदयंगम करे और अपनी गतिविधियों को लोक मर्यादाओं के विपरीत न जाने दे।

यों बनावटी शिष्टाचार, खुशामद, चतुरता, चापलूसी, ठगी और मतलब निकालने के उद्देश्य से भी बरता जा सकता है, बरता जाता भी है, पर मूलतः शिष्टता एक आध्यात्मिक गुण है। मानव-मात्र में ईश्वर की ज्योति को प्रकाशवान समझते हुए औचित्य की मर्यादाओं में जरा भी कमी न आने देना, उदारता, सेवा, क्षमा, सहिष्णुता का परिचय देना एक आध्यात्मिक दिव्य गुण है। इसे अपनाने से हमारी धार्मिकता एवं आस्तिकता का विकास होता है और अंततः जीवन मुक्ति एवं ब्रह्म निर्वाण की स्थिति तक पहुँच सकना संभव हो जाता है। उद्दंडता के पीछे निश्चित रूप से मनुष्य की तामसिकता, अहंकारिता, असुरता एवं पाप वृत्ति की मूर्खता

छिपी होती है। यह कागज की नाव एक दिन ढूबने ही वाली है। असभ्य मनुष्य का जीवन तिरस्कार और आत्म ताड़ना के थयेड़े खाता हुआ अंततः अधःपतन के गर्त में ही जा गिरता है।

शिष्टाचार को जीवन की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता समझते हुए, उसकी उपयोगिता को हृदयंगम करते हुए, पूरी सावधानी से अपने अभ्यास में लाने का हमें प्रयत्न करना चाहिए। इसका आरंभ वाणी से किया जाना चाहिए। किसी को कटु शब्द न कहा जाए। कठोर और रुखी शब्दावली का उपयोग करना तुरंत ही छोड़ देना चाहिए। जिससे भी बोला जाए, उसके प्रति आदर भाव रखते हुए नम्र, मीठे, सहानुभूति भरे सम्मान-सूचक शब्दों में बात करें। विचारों में चाहे घोर मतभेद ही क्यों न हो, चाहे सामने वाले के पक्ष को हम पूर्ण रूप से अस्वीकृत ही क्यों न करें, पर वाणी में कटुता न आनी चाहिए। यदि सामने वाले ने अपने प्रति कोई अनुचित व्यवहार किया है, तो भी उसके प्रतिकार के लिए संयमपूर्ण, तर्क-संगत, तथ्ययुक्त बात ही दृढ़ता के साथ कही जाए और उस अनौचित्य का अब जो प्रतिकार हो सकता हो उसका मार्ग सुझाया जाए। इस प्रकार सामने वाले को नरम बनाना और गलती में थोड़ा-बहुत सुधार करा सकना संभव हो सकता है। इसके विपरीत यदि गाली-गलौज, शाप भरी भाषा एवं कटु शब्दों का प्रयोग किया गया है, तो लाभ कुछ भी नहीं होगा। कटुता बढ़ेगी, साथ ही द्वेष, दुर्भाव और आक्रमण-प्रत्याक्रमण का एक नया सिलसिला और चल पड़ेगा, जिसका परिणाम शक्ति एवं शांति की बरवादी ही हो सकता है। यह मार्ग बुद्धिमत्ता का नहीं है।

परस्पर एक-दूसरे को मीठा बोलने की, सम्मानसूचक, विनयपूर्ण शब्द कहने की आदत डालकर हम बिना कुछ खरच किए दूसरों का मन जीत सकते हैं और उन्हें अपना शुभचिंतक, हितैषी, मित्र एवं सहायक बना सकते हैं। इतने कम खरच में इतना अधिक लाभ देने वाला बुद्धिमत्तापूर्ण और कोई उपाय इस संसार में

नहीं है। मधुर वाणी से लोगों को जितनी जल्दी समझाया जा सके और उसे आदत के रूप में अभ्यास में जितनी जल्दी डाला जा सके, उतना ही अधिक लाभ रहेगा। कोई चाहे बड़ा हो या छोटा, हर एक से सम्मानसूचक संबोधन करने चाहिए और उनको प्रिय लगाने वाली भाषा में अपना अभिप्राय प्रकट करना चाहिए। यह शिष्टाचार की पहली सीढ़ी है।

दूसरों को अपने व्यवहार से अनुचित एवं अनावश्यक कष्ट न हो इसका पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। किसी से कुछ वायदा किया है तो जब तक कोई अनिवार्य कठिनाई न आ जाए, उस वायदे को ठीक समय पर पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। धोबी, दरजी, रँगरेजों से लेकर बाबू लोगों तक में समय पर अपना वायदा पूरा न करने की लापरवाही देखी जाती है। किसी के यहाँ अमुक समय पर पहुँचने का वायदा किया है, तो बहुधा देर कर दी जाती है। यह वचन भंग की आदत बहुत बुरी है। जो कहा जाए, वह किया भी जाए। समय की पाबंदी का यथासंभव पूरा ध्यान रखा जाए। यह सभ्यता का दूसरा चिह्न है।

गंदगी से बीमारी ही नहीं घृणा भी फैलती है। हम अपने शरीर, वस्त्र, मकान और सामान को स्वच्छ रखें। उन्हें ऐसा गंदा और घृणित न बनाए रहें, जिससे दूसरों को उसे देखने में या समीपता में घृणा उत्पन्न हो। बहुधा लोग अपने दाँत गंदे रखते हैं, ऐसी तरह बोलते हैं कि थूक के छोटे मुँह से बाहर गिरें। कपड़े कई दिनों तक धोते नहीं, बदबू से घिरे रहते हैं, अपने घर और सामान को अव्यवस्था और फूहड़पन की नुमायश बनाए रहते हैं। इससे अपने आलसी, गैर जिम्मेदार और फूहड़ होने का प्रदर्शन होता है। देखने वाले की आँखों में अपनी इज्जत गिर जाती है। ऐसे लोग यदि किसी दूसरे के घर जाते हैं, तो अपनी आदत के अनुसार वहाँ भी गंदगी फैलाते हैं और अनेक सद्गुण रखते हुए भी इस छोटे से दुर्गुण के कारण उपहास एवं घृणा के पात्र बन जाते हैं। गंदगी की

आदतें असभ्यता की प्रतीक हैं, सभ्यता का तकाजा यह है कि हम साफ-सुधरे रहें, हमारी हर चीज साफ-सुधरे ढंग से करने के साथ सुव्यवस्थित रहे।

सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करते हुए हमें अपने अधिकार और कर्तव्य का पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। रेल में इतनी जगह न घेरें, जो हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है। यदि पास बैठे लोगों को कष्ट होता है, तो तंबाकू का धुँआ न उड़ाएँ, थूक, नाक, जूठन, रद्दी कागज, पानी आदि ऐसे स्थानों पर न बिखेरें जहाँ दूसरों को कष्ट होता हो। सड़कों पर केले और नारंगी के छिलके न फेंकें जिससे किसी को पैर फिसलने और चोट लगाने का खतरा पैदा हो। घरों के बाहर सड़क पर कूड़ा न बिखेरें, गली की नाली पर बच्चों को मल त्याग कराने से इधर से निकलने वालों को असुविधा उत्पन्न करना अनुचित है। चूँकि सार्वजनिक स्थान किसी एक व्यक्ति की संपत्ति नहीं होते, इसलिए बहुधा उन स्थानों का दुरुपयोग करते हैं, तो यह बुरी बात है। सार्वजनिक स्थान हर किसी के हैं, इसलिए हमारे भी हैं। हम अपने घर में जब गड़बड़ी पैदा होने देना पसंद नहीं करते तो उसे सार्वजनिक स्थानों पर भी नहीं करें, न दूसरों को करने दें, यही हर संभ्रांत व्यक्ति के लिए उचित है।

नारियों के प्रति कोई अशिष्ट आचरण करना ही नहीं भाव भी पवित्र रखना आवश्यक है। वयस्क नारियों की ओछे मनुष्यों की तरह घूर-घूर कर देखना, उनके साथ ठहाका मारकर हँसना या उद्धततापूर्ण ढंग से बातचीत करना भारतीय सभ्यता के सर्वथा प्रतिकूल है। जवान स्त्री-पुरुष एक-दूसरे की ओर आँख नीची करके देखें, पलक नीचे रखकर बातचीत करें, अपनी सगी बहन, बेटी या माता के साथ जिस ढंग से बातचीत या व्यवहार करना उचित है उससे जरा भी कमी अन्य नारियों के साथ न होनी चाहिए। वयस्क नारियों के लिए भारतीय सभ्यता का एक प्रमुख संदेश यह है कि वे अपने केस विन्यास, शृंगार एवं वेश-भूषा का ऐसा उत्तेजक

प्रदर्शन न करें, जिससे दूसरों को उनकी ओर कुटृष्टि से देखने का प्रोत्साहन मिले। यह बातें चाहे उनकी दृष्टि से 'कला' या शोभा ही क्यों न हों, पर उसमें अश्लील प्रवृत्तियों के भड़काने का भारी खतरा मौजूद है। यदि खतरे की ओर सावधानी न बरती गई, लड़कियाँ पैरिस और अमेरिका की नकल कर उत्तेजक वेष-विन्यास की ओर बढ़ती गई, तो परिणाम भी उन्हीं देशों जैसा होगा, यहाँ की परंपरागत शालीनता और शील-भावना को भारी आघात लगेगा। हर सभ्यताभिमानी के लिए शिष्टाचार की दृष्टि से इस खतरे से अपने घरों की लड़कियों को पूरी तरह सजग कर देना चाहिए।

बड़े-बूढ़ों के प्रति, गुरुजनों और बुजुर्गों के प्रति विशेष शिष्टाचार बरता जाना चाहिए। उनके बुद्धापे का बड़प्पन हमें स्वीकार करना चाहिए और बिना भूल किए उसके प्रति सम्मान प्रकट करना चाहिए। जाति-पाँति का ख्याल न करके अपने से बड़ों के लिए अभिवादन करना हर भारतीय संस्कृति के अनुयायी का कर्तव्य है। माता, पिता, भाई, चाची, दादी, चाचा, ताऊ, नाना, नानी, सास, जिठानी, बड़ी बहन, बुआ आदि आदरणीय कुटुंबियों के लिए चरण-स्पर्श के साथ नित्य प्रातः अभिवादन की प्राचीन परंपरा को अब घर-घर में पुनः जाग्रत किया जाना चाहिए। अब तक यह नहीं किया जाता रहा है। इस झिझक और संकोच को छोड़कर यदि हम अपने गुरुजनों के साथ इस प्रकार शिष्टता का परिचय देने लगें, तो न केवल एक धर्म परंपरा चल पड़ेगी, वरन हमारे बच्चों में भी देखा-देखी गुरुजनों के प्रति आदर-भाव जाग्रत होंगे, वे भी हमारा अनुकरण करेंगे। फलस्वरूप आज बालकों में जो अनुशासनहीनता और अश्रद्धा बढ़ रही है, उसका बहुत कुछ समाधान अनायास ही होने लगेगा।

सम्मानीय व्यक्तियों के सामने पैर फैलाकर या हलकी चेष्टाओं के साथ बैठना, टिकिट लेने, प्याऊ पर पानी पीने आदि के सामूहिक अवसरों पर अपने से पहले आए हुए लोगों का नंबर पारकर स्वयं

जल्दी आगे बढ़ना, किसी पीड़ित-परेशान, लँगड़े, काने या मूर्ख आदमी का उपहास बनाना, अपने मुँह अपनी तारीफ करना, कतरनी की तरह जीभ चलाते हुए ज्यादा बक-बक करते रहना, अश्लील चेष्टाएँ या बातें करना, दाँत, कान, आँख या गुप्त अंगों को व्यर्थ ही कुरेदते रहना, घर आए अतिथि के समुचित सत्कार की उपेक्षा करना, दूसरों की चीजें बिना उनसे पूछे उठाना और इधर-उधर करना, छोंक, जम्हाई, डकार आते समय मुँह के आगे हाथ या रुमाल न करना, अनुचित स्थानों पर मल-मूत्र त्यागना, किसी को चिढ़ाना, व्यर्थ की गप्पें हाँकना, रास्ता चलते खाना, भीख माँगना, नीच प्रकृति के असभ्य लोगों के साथ अधिक उठक-बैठक रखना, सड़क पर बाई ओर न चलना, दो आदमी अलग बात कर रहे हों तो उनके बीच में जा पहुँचना, गाली देना, कसमें खाना, बात करते समय दूसरों को नोंचते रहना या थपथपाना, बिना आज्ञा लिए किसी अजनवी के घर में घुसना, दूसरों की चिट्ठी बिना उसकी आज्ञा के पढ़ना, किसी से ऐसी बातें पूछना, जिसे बताने में उसे संकोच हो, दीवारों पर अपना नाम या और कुछ ऊट-पटांग लिखकर उन्हें गंदी करना आदि अनेक बातें ऐसी हैं जिनका ध्यान रखना हर शिष्टा और सभ्यता प्रेमी के लिए आवश्यक है। सभ्य समाज में रहने वाले सज्जनों का आचार-व्यवहार ध्यानपूर्वक देखने और सत्पुरुषों की सलाह ध्यानपूर्वक सुनने से सुसंस्कृत मनुष्यों जैसा आचार-व्यवहार सहज ही अपनाया जा सकता है।

### नारी को अविकसित न रहने दिया जाए

मनुष्य का जीवन दो धाराओं का सम्मिलन है, यह दो धाराएँ नर और नारी कही जाती हैं। दिन और रात महाकाल के दो विभाग हैं, इन दोनों के सम्मिश्रित एवं संतुलित क्रम से ही सृष्टि व्यवस्था चलती है। यदि इनमें से एक ही रहे, दूसरा नष्ट या क्षीण हो जाए, तो जीवों का जीवित रहना ही संभव न रहे। इसी प्रकार अन्न-जल, निद्रा-जागरण, जन्म-मरण के जोड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हुए भी मिलकर एक

क्रम व्यवस्था का निर्माण करते हैं। दो धागे या तिनके मिलाकर बँटने से ही रस्सी बनती है, यदि वह दो नहीं केवल एक ही धागा या तिनका हो तो रस्सी न बन सकेगी। ऋण और धन निगेटिव और पोजिटिव दो विद्युत धाराएँ आपस में न मिलें तो बिजली की जो प्रचंड शक्ति विभिन्न क्षेत्रों में काम करती है, वह अपने अस्तित्व तक का परिचय देने में समर्थ न हो।

नर और नारी का भी जोड़ा इसी प्रकार का है। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसी संतुलित सहयोग से ही एक स्वस्थ मानव-जीवन विनिर्मित होता है। इसी संतुलन के आधार पर गृहस्थ-जीवन का ही नहीं सारे सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था भी निर्भर है। इन दोनों में एक विकसित, दूसरा अविकसित रहे, एक उन्नत और दूसरा अवनति में रहे, तो पंगे, लंगड़े, काने, टेंटे, अर्धांग-वात रेग से पीड़ित मनुष्य की तरह कुसमता और अपूर्णता ही दिखाई पड़ेगी। सृष्टि संचालन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया नर-नारी के संयोग पर निर्भर है, प्रकृति ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए इन दोनों को अलग-अलग बनाकर भी एक सुदृढ़ स्नेह एवं आकर्षण के धागे से सीं दिया है। इतना ही नहीं दोनों में ऐसे अभाव भी रखे हैं, जिन्हें पूरा करने के लिए उनका पारस्परिक सहयोग आवश्यक हो गया है। जिस प्रकार नर-नारी का असहयोग रहने से सृष्टि क्रम आगे चलना बंद हो सकता है, उसी प्रकार पारस्परिक प्रेम एवं सहविकास के बिना गृहस्थ की गाड़ी भी टूटे पहिये के छकड़े की तरह चर-मर कर गिर सकती है और लकड़ियों का एक ढेर मात्र रह सकती है।

मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में नारी का सहयोग नितांत आवश्यक है। यह सहयोग जितना ही हार्दिक, जितना ही वास्तविक, जितना ही सक्रिय और जितना ही संतुलित होगा, उतना ही जीवन की विभिन्न दिशाओं में प्रगति संभव रहेगी। ऐसा सोचा जाता है कि व्यावसायिक क्षेत्र की सफलता पुरुष के अपने प्रयत्न पर निर्भर है, उसमें स्त्री का कुछ विशेष योग नहीं है, स्त्री तो गृह-व्यवस्था में ही सहायक हो सकती है, पर यह बात भी आंशिक रूप से ही सत्य है। स्त्री की उपयोगिता के बारे में आमतौर से इतना ही सोचा जाता है कि वासना-तृप्ति, शिशु-पालन और गृह-प्रबंध के लिए उसकी आवश्यकता है, पर वस्तुतः उसका क्षेत्र

इससे कहीं बड़ा है। नारी का सबसे बड़ा प्रभाव मनुष्य के मनःक्षेत्र पर पड़ता है। आशा, उत्साह, प्रसन्नता, स्फूर्ति, संतोष आदि जीवन के बहुमूल्य तथ्यों को नारी के द्वारा दिए हुए वरदान कहें तो अत्युक्ति न होगी। एक सुविकसित सच्ची जीवन-संगिनी नारी जिसे प्राप्त हुई हो उसे इन वरदानों की प्राप्ति होनी ही चाहिए।

वासना-तृप्ति, शिशु-पालन और गृह-प्रबंध के लिए समाज में ऐसी अनेक सुविधाएँ मौजूद हैं, जिनके द्वारा कुछ थोड़ा अधिक खरच करके यह तीनों ही सुविधाएँ मिल सकती हैं। वेश्यावृत्ति मौजूद ही है, शिशु-पालन और शिक्षण के लिए सुप्रबंध सज्जित संस्थाएँ मौजूद हैं, अपनी संतान न हो तो संसार में इतने गरीब और बहु-संतान से दुःखी व्यक्ति मौजूद हैं, जो खुशी-खुशी अपने बच्चों को गोद रखने के लिए दे सकते हैं। होटलों में चाहे जैसा भोजन तैयार होता है, गृह-प्रबंध तो बड़े घरों में आमतौर से नौकरों पर ही निर्भर रहता है। इन कार्यों के लिए धर्म-पत्नी का होना अनिवार्य नहीं है, यह कार्य उसके बिना भी चल सकते हैं। यह बात अलग है कि पत्नी सस्ती पड़ती है और बाहर इन कार्यों के लिए कुछ अधिक खरच करना पड़े। यदि उन्हीं बातों तक नारी की उपयोगिता सीमित होती, तो केवल गरीब लोग ही सस्तेपन की दृष्टि से विवाह के झंझट को सिर पर ओढ़ते, अमीर लोग अपनी स्वच्छंदता में नियंत्रण डालने वाले और अगणित उत्तरदायित्वों से लदे हुए विवाह-बंधन में बँधने के लिए तैयार न होते।

नर और नारी दोनों की अंतरात्मा का निर्माण कुछ ऐसे विचित्र ढंग से हुआ है कि उसका प्रस्फुरण एक-दूसरे के अंतःस्पर्श से ही होता है। इस संयोग के बिना दोनों खोए-खोए से रहते हैं, दोनों को कोई अज्ञात अभाव हर घड़ी खटकता रहता है। वयस्क कुमार-कुमारी इस उल्लास की तलाश में तृष्णित नेत्रों से इधर-उधर झाँकते देखे जाते हैं। विधुर और विधवाएँ जिनका साथी बिछुड़ गया है एक दरद, टीस, वेदना, पीड़ा और कसक को अपने कलेजे में छिपाए फिरते हैं। समय-कुसमय जब उनकी यह हूक प्रबल हो जाती है, तो उनके भीतर कितनी असह्य ऐंठन होती है इसका वर्णन न तो शब्दों में संभव है और न

व्याख्या करके किसी को समझाया जा सकता है। इसे तो केवल भुक्तभोगी ही जानते हैं।

दक्ष प्रजापति के यज्ञ में गई हुई सती, जब अपने पति शंकर का अपमान सहन न कर सकीं, तो वे यज्ञ में ही कूद पड़ीं। यह दरद भरा समाचार जब शिव को मिला तो उनका अंतःकरण हाहाकार कर उठा। वेदना से उनका हृदय फूटकर बाहर निकलने लगा। योगेश्वर, सदा समाधि में रहने वाले शिव का, कामदेव को तीसरे नेत्र से जलाकर भस्म कर देने वाले शिव का धैर्य और विवेक धर्म-पत्नी के वियोग की उस प्रचंड पीड़ा के सामने ठहर न सका। शंकर हतप्रभ हो गए। उनका आंतरिक हाहाकार ऐसा उमड़ा कि मानों प्रलय ही फूट रही हो। उन्होंने मरी हुई सती की जली हुई लाश को कंधे पर लादा और पागल उन्मत्तों की तरह अपनी वेदना की लहरों के साथ-साथ उछलने लगे। सती की लाश को कंधे पर रखे शंकर का रोम-रोम जो हाहाकार कर रहा था, जैसी प्रचंड पीड़ा से आलोकित हो रहा था, उसे देखते हुए देवता काँपने लगे। उन्हें लगा मानों शंकर के अंतस्तल का चीत्कार अपने कलेवर को फाड़कर अब तब में फट पड़ने वाला ही है। दशों-दिशाओं में हाहाकार मच गया। विष्णु ने उस विपत्ति की घड़ी को टालने के लिए शोक के प्रचंड वेग को शमन करने के लिए अपने चक्र से उस लाश के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। वे टुकड़े जहाँ-जहाँ गिरे वहाँ शक्तिपीठ बने।

नारी के अभाव की जो क्षति ज्ञान-विज्ञान के अधिपति शंकर के लिए असह्य थी, वह कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है? इसका उपयोग हम वासना के कीड़े, उसके द्वारा उपलब्ध होने वाले लाभों के आधार पर सोचें। यदि हम वासना-दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं, तो यह हमारी हीन-दृष्टि ही है, इससे नारी की महत्ता कम नहीं होती। देवता और भगवान कहने वालों ने अपने नाम का गौरव तभी सार्थक माना, जब उनकी पत्नियों के नाम उनके नाम से पहले जुड़े। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, राधेश्याम, उमामहेश, सिद्धि-गणेश, शची-पुरंदर आदि युग्मों में पतियों से पहले पत्नियों का ही उल्लेख

हुआ है। यह तथ्य बताते हैं कि जिन्हें आत्मा की प्रकृति का ज्ञान है वे जानते हैं कि नारी के द्वारा नर को क्या मिलता है?

नर का रोम-रोम नारी की अनुकंपा का नन्हा-सा खिलौना मात्र है। पिता के एक बूँद पानी मात्र को लेकर माता ने बच्चे को अनंत दिया है। उसने अपने खून में से खून, माँस में से माँस, प्राण में से प्राण का दान नौ महीने तक अजस्त रूप से जारी रखा, तब उसका शरीर इस योग्य बन पाया कि धरती पर पैर रखकर यहाँ की परिस्थितियों को सहनकर सके। इसके बाद भी उसका वह दान समाप्त नहीं होता। अपनी छाती के खारी और लाल खून को बच्चे की प्रवृत्ति के अनुकूल न पाकर वह उसे सफेद रंग में मीठे स्वाद में बदलती है और दूध के रूप में पिलाती है। इतना ही नहीं उसने अपने आपको उसकी आत्मीयता के रंग से इतना रंग दिया कि यही पता नहीं चलता कि बच्चा और वह एक हैं या दो। बच्चा जब कपड़ों पर टट्टी कर देता है, पेशाब फिर देता है तब उसे उतना भी क्रोध नहीं आता, जितना स्वयं बीमार हो जाने पर अपना मल-मूत्र कपड़ों में निकल जाने पर आता। बच्चा बीमार हो जाता है, तो वैसी ही बेचैनी अनुभव करती है जैसे किसी को स्वयं अपने बीमार होने पर हो सकती है। इस सृष्टि में माता की उदारता, आत्मीयता और अनुकंपा अद्वितीय कही जाती है।

नारी दान की मूर्ति है वह बालक को जो देती है, वह प्रकट है, क्योंकि लोग जानते हैं कि उसे यह सब देने वाला और कोई नहीं है, पर वह पति को भी जो देती है, वह पुत्र से किसी भी प्रकार कम नहीं है। भूल उसके मूल्यांकन में होती है। जो मानसिक वरदान नारी अपनी अंतरात्मा को निचोड़ कर पति को देती है, उसे लोग सोच नहीं पाते, समझ नहीं पाते। बालक के प्रतिदान की भाँति उसका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है इसलिए लोग समझते हैं कि यह सब उन्होंने स्वयं उपार्जित किया है, पर तथ्य यह नहीं है। वास्तविकता यह है कि माता से प्रतिदान पाने के बाद बालक में जो कमी रह गई थी उसकी पूर्ति वह पत्नी से करता है, तब वह इस योग्य बनता है कि उसे एक सुविकसित, सुसंस्कृत मनुष्य कहा जा सके।

पौधा कोई भी क्यों न हो, उसे उपयुक्त भूमि की एवं पानी की आवश्यकता होती ही है, उसके बिना उसका विकास संभव नहीं। इसी प्रकार व्यक्ति के मानस-संस्थान का उचित विकास होने के लिए माता तथा नारी का अभीष्ट सहयोग अपेक्षित है। इन पंक्तियों में अभीष्ट सहयोग से मतलब माता के लाड़-चाव, पालन-पोषण से और पली के वासना-तृप्त करने से नहीं है। यह तो आमतौर से सर्वत्र ही होता रहता है। माता अपने आंतरिक संस्कारों को बालक के जन्म से पूर्व पर्याप्त मात्रा में उसके मन, मस्तिष्क, हृदय या नाड़ी संस्थान में भर देती है। बच्चे की प्रकृति का आधे से अधिक भाग उसके जन्म से पूर्व बन चुका होता है। शेष आधा ही सत्संग, स्वाध्याय, वातावरण, अनुकरण आदि के आधार पर बनता है। यदि माता ने बालक का निर्माण केवल शरीर तक ही सीमित नहीं रखा है, उसे अपने उच्च संस्कार भी प्रदान किए हैं, तो यह माना जाएगा कि निर्माण में उसने अभीष्ट सहायता दी है। इसी प्रकार पली ने वासना और व्यवस्था तक ही सीमित न रहकर यदि पति की अंतरात्मा को छुआ है, उसकी प्रसुप्त मनोभूमि को सुविकसित करने में प्रसन्नता, उत्साह, आशा, स्फूर्ति, धैर्य, साहस आदि गुणों को प्रस्फुटित करने में योगदान दिया है, तो इसे भी अभीष्ट सहयोग कहा जाएगा। जिस व्यक्ति को सहृदय और सुसंस्कृत माता एवं पली प्राप्त हुई है, उसे सब प्रकार सौभाग्यशाली ही कहा जा सकता है और इन दोनों के द्वारा उसका अंतस्तल इतना विकसित हो गया होता है कि वह जीवन की किसी भी दिशा में आशाजनक प्रगति कर सकता है और बड़ी-से-बड़ी कठिनाई के साथ हँसते-हँसते टक्कर ले सकता है।

उपर्युक्त, उन्नति और प्रसन्नता के अनेक साधन जुटाने के लिए हम दिन-रात जी-जान से प्रयत्न करते हैं। फलस्वरूप बहुत कुछ उपकरण जुटा भी लेते हैं, परंतु उनका प्रभाव केवल बाहरी जीवन तथा इंद्रियों की प्रसन्नता तक ही सीमित रहता है। अंतस्तल को छूने और विकसित करने वाली वस्तु उनमें से कोई नहीं होती। मनुष्य की महानता, उसकी साधन सामग्री पर नहीं, वरन् उसके आंतरिक गुणों पर निर्भर

करती है। अनेक निम्न व्यक्तित्व के आंतरिक दुर्बलता और हीनता की भावना से ग्रसित व्यक्ति कोई कहने लायक उन्नति नहीं कर सकते। भाग्य से अनायास ही कोई लाभदायक अवसर प्राप्त हो जाए, तो वह स्थिति देर तक कायम नहीं रह सकती। व्यक्तित्व के दोषों के कारण अंततः दुःख-दुर्भाग्य ही सामने आ खड़ा होगा। इसलिए बुद्धिमान लोग अपने में, अपने स्त्री-बच्चों और परिजनों में अच्छे स्वभाव, गुण और आचार की अभिवृद्धि का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि स्थायी उन्नति केवल सुविकसित मनोभूमि पर ही अवलंबित है। दुर्बुद्धिग्रस्त मनुष्य किसी प्रकार कुछ उपार्जन भी कर ले तो उसमें उसके अहंकार एवं दुर्गुणों की वृद्धि में ही सहायता मिलती है और पतन की घड़ी तेजी से समीप आने के कारण बनने लगते हैं।

सुसंस्कारों के संग्रह होने में और भी अनेक कारण हैं, पर सबसे बड़ा कारण माता द्वारा गर्भ-काल में ही बालक को अपनी अंतःस्थिति का दान और बड़े होने पर पत्नी द्वारा उसके अहम् का उद्बोधन, शोधन और अभिवृद्धन ही है। इन दोनों के द्वारा जितनी वास्तविकता के साथ व्यक्ति के अंतःनिर्माण का कार्य हो सकता है, उतना अनेक विश्वविद्यालय मिलकर भी नहीं कर सकते। अपार संपत्ति का स्वामी होकर भी, विपुल कीर्ति और सत्ता का अधिकारी होकर भी मनुष्य इतनी शांति और प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सकता, जितनी कि नारी अपनी अंतरगत्मा को निचोड़ कर नर को पिलाने की प्रक्रिया में प्रदान कर देती है। माता केवल दूध ही नहीं पिलाती, स्नेह भरा वात्सल्य भी पिलाती है, साथ ही अगणित सुसंस्कार भी। इसी प्रकार पत्नी केवल वासना की तृप्ति ही नहीं करती, वरन् अंतर की अनेक उत्तेजनाओं, अशांतियों और अव्यवस्थाओं का भी शमन कर देती है। वह माता की तरह भले ही दूध न पिलाती हो, पर अदृश्य रूप से जो कुछ पिलाती है वह अंतःतृप्ति के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होता है।

हमारे समाज की नारी आज जिस हीन दशा में पड़ी है, उसमें तो पाक-विज्ञान, शिशु-पालन, गृह-व्यवस्था, परस्पर शिष्यचार-संबंध, आरोग्य-ज्ञान, हिसाब-किताब, सामान्य ज्ञान जैसी गृहस्थोपयोगी मामूली

बातों की भी आशा नहीं की जा सकती। उसके यह साधारण कार्य भी भोंडे, त्रुटिपूर्ण और अस्त-व्यस्त पड़े रहते हैं, फिर उन सुसंस्कारों की आशा कैसे की जाए, जिन्हें वे अपने तक ही सीमित न रखकर अपने पति और पुत्रों को प्रदान कर सकती हैं।

नारी को अविकसित और पददलित रखकर पुरुष ने पिछली शताब्दियों में पाश्विक अहंकार की पूर्ति की है। मैं समर्थ हूँ, मेरे पुरुषार्थ पर ही नारी जीवित रहे, इस अहंभाव से प्रेरित होकर उसने नारी को कोने में बिठा दिया, परदे में रखा, घरों की चहारदीवारी में कैद किया और घर में या घर से बाहर निकलकर कुछ भी न करने की व्यवस्था बना दी। उसका अहंकार फूला न समाया। मैं कितना समर्थ हूँ कि एक नारी की स्वाभाविक क्षमता की पूर्ति भी अपने ही द्वारा कर सकता हूँ। इसे उसने अपना बड़प्पन माना और गर्व भी अनुभव किया। इस व्यर्थ अहंकार में पुरुष का तो कुछ लाभ हुआ नहीं, नारी की सारी क्षमताएँ कुंठित हो गई, वह सभी दृष्टियों से लुंज-पुंज बन गई। ऐसी दीन-हीन स्थिति में पड़ी हुई गृहिणी जिसने अपने मानसिक संस्थान को शिक्षा और अनुभव से रहित परिस्थितियों में पड़े रहकर सब प्रकार दुर्बल बना लिया है, पुरुष के लिए अपने परिवार के लिए स्वयं अपने लिए उपयोगी भी क्या हो सकती है?

### अनंत-वत्सला नारी और उसकी महत्ता

विश्वकवि रवींद्रनाथ टैगोर ने कहा है—“पवित्र नारी सृष्टि की सर्वोत्तम कृति है। सृष्टि में वात्सल्य, स्नेह, ममत्व, प्रेम की अमृत-धाराएँ नारी हृदय से निकलकर इस संसार को अमृत-दान कर रही हैं।” कवि रसिकन ने कहा है—“माता का हृदय एक स्नेहपूर्ण निर्झर है, जो सृष्टि के आदि से अनवरत झरता हुआ मानवता का सिंचन कर रहा है।” “मातृदेवो भव” कहकर उपनिषद के ऋषि ने माता के लिए लोकोत्तर सम्मान प्रदान किया है। सचमुच साधारण प्राणियों से भरी इस धरती पर माता का हृदय एक दैवी-विभूति ही है।

माता धरित्री, जननी दयार्द्र हृदया शिवा।  
देवी त्रिभुवन श्रेष्ठा निदोषा सर्व दुःखहा॥

आराधनीया परमादया शांतिः क्षमा धृतिः ।

स्वाहा स्वधा च गौरी च पद्मा च विजया जया ॥

भगवान् वेदव्यास जी ने नारी को उक्त इक्कीस नामों से संबोधित करते हुए गुणगान किया है और फिर आगे कहा है—

नास्ति गंगासमं तीर्थं नास्ति विष्णुसमो प्रभुः ।

नास्ति शम्भुसमो पूज्यो नास्ति मातृसमो गुरुः ॥

“गंगा के समान कोई तीर्थ नहीं, विष्णु के समान कोई प्रभु नहीं और शिव के समान कोई पूज्यनीय नहीं तथा वात्सल्य स्नोतस्विनी मातृ हृदया नारी के बराबर कोई गुरु नहीं, जो इस लोक और परलोक में कल्याण का मार्ग प्रशस्त करें।”

ब्रह्मा इस संसार की रचना करते हैं और विष्णु इसका धारण, पोषण, संवर्द्धन करते हैं। इस सूक्ष्म आध्यात्मिक रहस्य को यदि स्थूल रूप में कहीं देखना हो तो उसकी झाँकी माता को देखकर की जा सकती है। ब्रह्मा और विष्णु की दैवी शक्तियाँ इस धरा पर नारी के मातृ रूप में अपना कार्य कर रही हैं। इसी की अनुभूति के आधार पर शास्त्रकार ने कहा है—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

“संसार की रचना उसका धारण-पोषण करने वाली दैवी शक्ति इस स्थूल संसार में नारी के मातृ रूप में ही स्थित हो अपना कार्य कर रही है। इसलिए इस मातृ-रूपा नारी को हम बार-बार नमन करते हैं।”

इस तथ्य को एक दृष्टा मनीषी ने कहा है—“ईश्वर के पश्चात हम सर्वाधिक ऋणी नारी के हैं। प्रथम तो जीवन के लिए पुनश्चः इसे जीने योग्य बनाने के लिए।” तात्पर्य यह है कि मनुष्य-जीवन की सभी संभावनाओं के मूल में माँ का असीम प्यार, उसका त्याग, उसकी महान सेवाएँ ही निहित हैं।

नारी जाति की इस महानता, उसके मानव-जाति के प्रति महान ऋण को देखते हुए बहुत पहले से ही मनुष्य ने इसको आदर, पूजा का

पात्र समझा और उसका समुचित आदर-सत्कार किया। काली, सरस्वती, लक्ष्मी तथा अन्य देवी शक्तियों के रूप में नारी का पूजन उसके उच्च सम्मान के लिए ही किया गया।

नारी माँ के रूप में बच्चे की आदि गुरु है। जननी को विभिन्न विषयों में जो शिक्षा, अनुभव प्राप्त होता है, वही बच्चे के जीवन में प्रभाव डालता है। जननी के उच्चारण, उसकी भाषा से ही वह भाषा ज्ञान प्राप्त करता है, जो जीवन-भर के भाषा-ज्ञान का मूलाधार होता है। इस तरह बच्चे की शिक्षा-दीक्षा, उसे योग्य बनाने की नींव जननी ही लगाती है। उसी नींव पर बालक के संपूर्ण जीवन की योग्यता, शिक्षा-ज्ञान का महल खड़ा होता है। माँ का कर्तव्य केवल स्तन-पान या स्नेह-दान तक ही नहीं है, अपितु इसके साथ ही वह बच्चे को जीवन में विकसित होने, उत्कर्ष की ओर बढ़ने के लिए एक तरह की सूक्ष्म शक्ति प्रेरणा भी देती है। माँ द्वारा कही गई उच्च आदर्श, त्याग की कथाएँ, उपदेश, साधारण भाषा में दिया गया ज्ञान भी बालक के जीवन में ऐसा प्रभाव डालता है जो जीवनभर बड़ी-बड़ी पुस्तकों को पढ़कर बड़ी-बड़ी डिग्रियाँ प्राप्त करके भी नहीं मिलता। माँ द्वारा प्रदत्त प्रारंभिक ज्ञान प्रेरणा को पाकर ही बालक आगे चलकर प्रकृत-ज्ञान का अधिकारी होता है।

बच्चे के प्रति माता का स्नेह उसकी ममता दयामय परमात्मा का प्रकाश है। शिशु के प्रति मातृ हृदय में उमड़ता हुआ स्नेह प्रकृति की ओर से जीवन रक्षा के लिए ईश्वरीय देन है। यह स्नेह, ममता, सहज ही जननी को बालक के पालन-पोषण के लिए प्रयत्नपूर्वक लगाती है।

ऋषियों ने मातृ-हृदया नारी का 'मातृ ऋण' मानव जाति पर सबसे बड़ा ऋण माना है। उन्होंने नारी को समाज में सम्माननीय, पूज्यनीय स्थान देकर उसका आदर-सत्कार करके मातृ ऋण चुकाया और इसी तरह का आदेश अपनी भावी संतानों को भी दिया। नारी के प्रतिष्ठा, गौरव को चिरजीवित रखने के लिए सभी धर्म-ग्रंथों में स्थान है।

मातुश्च यद्वितं किंचित्कुरुते भक्तिनः पुमान् ।

तद्धर्म हि विजानीया देवं धर्म विदो विदुः ॥

"मातृ-शक्ति की भलाई के लिए पुरुष भक्तिपूर्वक जो कुछ भी

कर्म करता है वही उसका धर्म है। गृहस्थ व्यक्ति की बड़ी तपस्या इसी में है कि वह नारी जाति की सेवा उसमें दैवी शक्ति के दर्शन करके करें।”

भारतीय संस्कृति में नारी के प्रति यह केवल शाब्दिक प्रदर्शन मात्र नहीं है। वरन् पद-पद पर इसमें व्यवहारिकता की छाप है। इसमें कोई संदेह नहीं कि नारी जाति के महान उपकारों को स्वीकार कर भारतीय जन समाज ने मातृ जाति को यथोचित पूजा, उसका सत्कार किया और समाज में उच्च स्थान दिया जिसके फलस्वरूप नारी के हृदय से सहज स्नेह, वात्सल्य, ममत्व की त्रिवेणी भारतभूमि में बह निकली, जिसका पानकर भारतीय जीवन अजर-अमर हो गया। भारतवासियों ने लौकिक और पारलौकिक जीवन में भारी प्रगति की, इतिहास इसका साक्षी है।

पत्नी, पुत्री और भगिनी के रूप में मातृत्व हमारे चारों ओर बिखरा पड़ा है। यह श्रद्धा एवं पूजा के योग्य है। देवत्व की इस प्रत्यक्ष प्रतिमा की गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा निरंतर अभिनंदनीय है। इस रहस्य को मनुष्य जब तक समझता रहा, अपने देवत्व को स्थिर रख सका। अब जबकि उसने नारी को वासना, कामुकता की तृप्ति का साधन बनाना आरंभ किया, क्रीत-दासी के समान अपने पाशविक बंधनों में जकड़ कर निरीह बनाने, मनमाने अत्याचार करने और अपनी संपत्ति मात्र मानने का दृष्टिकोण बनाया है, तो फिर पुरुष-पुरुष नहीं रहा। उसका तप, तेज चला गया और वह एक क्षुद्र प्राणी के समान अपने गौरव से पतित होकर निम्न श्रेणी का जीवन-यापन कर रहा है।

इस पृथ्वी पर दैवी तत्व का एकमात्र प्रतीक मातृत्व है। उसके प्रति उच्च कोटि की श्रद्धा रखे बिना देवत्व की पूजा एवं साधना नहीं हो सकती और इसके अभाव में पुरुष को देवत्व से वंचित रहना पड़ेगा। नारी कामधेनु है। जब उसे हम मातृबुद्धि से देखते हैं, तो वह हमें देवत्व प्रदान करती है, पर जब उसे वासना, संपत्ति, दासी की दृष्टि से देखा जाता है, तो वह हमारे लिए अभिशाप बन जाती है। न जाने हमारी दुर्बुद्धि कब टलेगी, न जाने कब हम नारी की दिव्य-शक्ति को पहचान कर उसके चरणों में श्रद्धा के आँसू चढ़ाना सीखेंगे? न जाने इस अभाव के कारण हमें कब तक देवत्व से वंचित रहना पड़ेगा।